शास्त्रार्थ पानीपत

भाग १

क्या

ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है ?

श्री चम्पावती जैन पुस्तकमाला का सत्ताईसवां पुष्प

श्री भा० दि० जैन शास्त्रार्थ संघ अम्बाला छावनी
अलवरपाटन सिटी.

शास्त्रार्थ पानीपत

भाग १

[क्या ईश्वर सृष्टि कर्त्ता है ?]

स्वर्गीया विदुषी चम्पावती जैन

प्रकाशक:—
मंत्री—चम्पावती जैन पुस्तकमाला प्रकाशन विभाग
श्री भा० दि० जैन शास्त्रार्थ संघ,
अम्बाला छावनी।

प्रथमवार १००० | सन १९३४ ई० | मूल्य दश आने

आभार प्रदर्शन

दिगम्बर जैन सभा पानीपत उन सभाओं में से एक है जिनके सहयोग का संघ को गौरव है। यहाँ से समय समय पर संघ को हर प्रकार की सहायता मिलती रहती है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में दि० जैन सभा पानीपत ने संघ को दो सौ रुपयों की सहायता प्रदान की है जिसके लिए संघ उसका हृदय से आभारी है।

विनीत—

मंत्री, चम्पावती जैन पुस्तकमाला

प्रकाशन विभाग भा० दि० जैन शास्त्रार्थ संघ

शास्त्रार्थ का इतिहास

पानीपत में प्रति वर्ष जैन रथोत्सव होता है। रथोत्सव के साथ ही साथ स्थान स्थान पर जैनधर्म के सम्बन्ध में विद्वानों के भाषण भी होते हैं। पानीपत का यह वार्षिक उत्सव मार्च के महीने में हुआ करता है। रथोत्सव के समय एक स्थानीय जैन विद्वान् का व्याख्यान भी हुआ था। आपके भाषण का विषय "क्या ईश्वर जगत कर्ता है ?" था। आपने अपने भाषण में इस बात को सिद्ध किया था कि ईश्वर को जगत का रचयिता समझना भारी भूल है।

जिस प्रकार आर्यसमाज एवं अन्य कर्तावाद की समाजों की मान्यताओं के अनुसार ईश्वर जगत का रचयिता है उसही प्रकार जैन मान्यता इसके प्रतिकूल है—जैन मान्यता कर्तावाद के प्रतिकूल है। जिस प्रकार इतर समाजों को अपनी २ मान्यताओं के समर्थन का पूर्ण अधिकार है और ऐसा करते समय यह नहीं कहा जा सकता कि वे इतर समाजों का खंडन कर रही हैं

उसही प्रकार जैनसमाज को भी यह अधिकार है कि वह अपनी मान्यताओं के अनुसार कर्तावाद का खंडन करे। जैन समाज की यह कृति अन्य समाजों की कृतियों के भाँति खंडनात्मक भी स्वीकार नहीं की जा सकी। ऐसा होने पर भी "आर्यसमाज पानीपत" जैन विद्वान के उक्त भाषण को सहन न कर सकी और उसने तुरन्त जैनसमाज को कर्तावाद पर शास्त्रार्थ के लिए निमंत्रण भेज दिया! जैनसमाज पानीपत ने भी आर्यसमाज पानीपत के इस निमंत्रण को सहर्ष स्वीकार कर लिया। दोनों समाजों की तरफ़ से शास्त्रार्थ के नियमादिक के निर्णय के लिए पत्र व्यवहार चालू होगया! जैनसमाज की तरफ़ से आर्य-समाज से उसके माननीय शास्त्रों की सूची भी मांगी गई थी। ज्योंही यह बात जैनसमाज की तरफ़ से उपस्थित की गई, त्योंही आर्यसमाज ने इसके प्रतिवाद स्वरूप जैनियों से भी उनके माननीय शास्त्रों की सूची का प्रश्न खड़ा कर दिया! जैनसमाज ने अपने माननीय शास्त्रों की सूची आर्यसमाज के पास भेज दी किन्तु आर्यसमाज ने ऐसा न किया और व्यर्थ के पत्र-व्यवहार में कुछ समय नष्ट किया।

जबकि यह बात पोस्टरों के द्वारा जनता के समक्ष उपस्थित की गई तब आर्यसमाज ने एक व्यक्ति श्री रामगोपाल जी की तरफ़ से एक नोटिस प्रकाशित किया जिसमें उसके कुछ माननीय शास्त्रों के नाम थे!

जैनसमाज आर्यसमाज के इस चैलेञ्ज का कार्य रूप से

जवाब देना चाहता था; अतः उसने आर्यसमाज की इन अव्यवस्थित बातों पर दृष्टि न डालते हुए शास्त्रार्थ की बातचीत को चालू ही रक्खा और अन्त में दोनों समाजों में निम्नलिखित नियम निश्चित हो गये:—

नियमावली शास्त्रार्थ

१—शास्त्रार्थ ता० ५—११—३३ से १२—११—३३ तक होगा।

२—पहिला विषय "क्या ईश्वर सृष्टि कर्त्ता है" ता० ५—११—३३ से ८—११—३३ तक होगा, उसके पश्चात् ता० ९—११—३३ से १२—११—३३ तक "क्या जैन तीर्थंकर सर्वज्ञ थे" यह दूसरा विषय होगा।

३—एक दिन में दो पत्र पूर्व पक्ष के और दो पत्र उत्तर-पक्ष के होंगे, जिसमें एक पत्र में ४ पृष्ठ फुलस्केप काग़ज़ के होंगे। और प्रत्येक पृष्ठ पर ३२ लाइन से ज़्यादा लाइन न लिखी जायेंगी। दोनों पक्ष के विद्वान् प्रत्येक पृष्ठ के एक ही तरफ़ लिख सकेंगे!

४—पहिला पत्र पूर्वपक्ष की तरफ़ से प्रातः काल ८ बजे तक भेजा जावेगा, जिसका उत्तर उत्तर-पक्ष को १२ बजे तक भेज देना होगा; तत्पश्चात् पूर्वपक्ष का दूसरा पत्र ४ बजे तक आजावेगा, जिसका जवाब रात्रि के आठ बजे तक दिया जावेगा। इसी प्रकार प्रत्येक दिन हर एक विषय के सम्बन्ध में शास्त्रार्थ चार रोज़ तक जारी रहेगा; हरएक विषय सम्बन्धी प्रत्येक पक्ष

के आठ २ पत्र होंगे। अन्तिम पत्र में केवल पूर्व युक्तियों पर ही विचार होगा, कोई नवीन युक्ति या प्रमाण न दिया जायेगा।

५—दौराने शास्त्रार्थ में किसी प्रकार की किसी पक्ष की तरफ़ से इश्तहारबाज़ी न होगी, अलबत्ता प्रत्येक पक्ष को अधिकार होगा कि वह सर्व साधारण के ज्ञानार्थ शास्त्रार्थ पत्रों को बिना टिप्पणि प्रकाशित कराता रहे!

६—समस्त शास्त्रार्थ-पत्र देव नागरी लिपी और हिन्दी भाषा में होंगे।

७—प्रत्येक पक्ष अपने शास्त्रार्थ-पत्रों को अपने नियुक्त प्रतिनिधि व नियुक्त विद्वान (जिसकी सूचना प्रतिनिधी को पहिले देनी होगी) के हस्ताक्षर कराकर दूसरे पक्ष के नियुक्त प्रतिनिधी व नियुक्त विद्वान के पास भेजा करेगा; दूसरे पक्षको उसकी पहुँच और पहुँच के समय की रसीद देनी होगी।

८—प्रत्येक पक्ष माननीय महापुरुषों का उल्लेख करने में और एक दूसरे के मन्तव्यों पर टिप्पणि करने में शिष्टाचार से काम लेगा।

९—प्रत्येक पक्ष ने जो अपने २ प्रामाणिक ग्रन्थों की सूची दी हुई है, उनके आधार पर ही प्रमाण और उदाहरण दिये जायेंगे।

ह० सोहनलाल आर्य्य,
मंत्री आ० स० पानीपत।
ता० २८-१०-३३

ह० मुनिसुव्रतदास जैन,
प्रतिनिधि जैनसमाज, पानीपत
ता० २८-१०-३३

शास्त्रार्थ में किसका पक्ष प्रबल रहा इसको मैं विचार-शील पाठकों पर ही छोड़ता हूँ। जैनसमाज पानीपत को इस शास्त्रार्थ में दि० जैन शास्त्रार्थ संघ अम्बाला ने पूर्ण सहयोग दिया है या यों कहिये कि यह उक्त संघ के सहयोग का ही फल है जो पानीपत जैनसमाज इस कार्य को निर्विघ्न एवं सफलता के साथ पूर्ण कर सकी है! इसके लिए मैं पानीपत दि० जैन समाज की तरफ़ से शास्त्रार्थ संघ का हृदय से आभारी हूँ। जैनसमाज का कर्तव्य है कि वह ऐसी संस्था के लिए हर एक प्रकार की सहायता प्रदान करे, जिससे इसकी जड़ दृढ़ हो जाय और यह स्थिरता के साथ जैनसमाज की सेवा कर सके!

शुभमस्तु सर्वजगतः

पानीपत,
१२ मार्च १९३४ ई०

जैन समाज का तुच्छ सेवकः—
मुनिसुव्रतदास जैन,
प्रतिनिधि जैन समाज, पानीपत।

आद्य वक्तव्य

यह शास्त्रार्थ लिखित हुआ है। इसका विषय "क्या ईश्वर जगत कर्ता है ?" है। इसमें आठ पूर्व पक्ष और आठ ही उत्तर पक्ष हुए हैं। पूर्वपक्ष आर्यसमाज का रहा है और उत्तर-पक्ष जैनसमाज का। शास्त्रार्थ को असली रूप में—पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष के ही शब्दों में—प्रकाशित किया गया है। पाठक सरलता के साथ इसका अध्ययन कर सकें और इसके परिणाम तक पहुँच सकें, अतः यहां हम उन युक्तियों और प्रत्युक्तियों को जो कि पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की तरफ से उपस्थित की गई हैं संक्षेप से लिखे देते हैं।

इस शास्त्रार्थ में निम्नलिखित बातों पर विशेष विचार हुआ है :—

(१) प्रलय

(२) सृष्टि

(३) ईश्वर कर्तृत्व

आर्यसमाज की तरफ़ से प्रलय के समर्थन में निम्न-लिखित प्रमाण उपस्थित किये गये हैं :—

(१) जैन शास्त्र

(२) व्यष्टि और समष्टि का नियम

(३) विज्ञान

आर्यसमाज का कहना है कि जैन शास्त्र प्रलय को स्वीकार करते हैं; प्रमाण स्वरूप उत्तर पुराण पर्व ७६ श्लोक ४४६, त्रिलोकसार श्लोक ८६७ और मोक्ष शास्त्र अ० ३ सूत्र २७ उपस्थित किये हैं। आर्यसमाज की तरफ़ लिखा गया है कि इन शास्त्रोंमें प्रलय को स्वीकार किया गया है, अतः जैनशास्त्रों से प्रलय का अस्तित्व प्रमाणित है।

इसके सम्बन्ध में जैनसमाज की तरफ़ से दो बातें उपस्थित की गई हैं—एक प्रलय का स्वरूप और दूसरी उससे जैन शास्त्रों के कथन की असमानता। जैनसमाज का कहना है कि जगत के समस्त परमाणुओं का चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष तक परमाणु रूप में ही रहना आर्यसमाज की प्रलय है; जैन शास्त्र इस प्रकार की प्रलय का समर्थन नहीं करते।

प्रलय के सम्बन्ध में दोनों मान्यताओं—आर्यसमाज और जैनसमाज—का तुलनात्मक विचार करते हुए जैनसमाज की तरफ़ से निम्नलिखित वाक्य लिखे गये हैं :—"आर्यसमाज मतानुसार प्रलयकाल में समस्त लोक चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष पर्यन्त निष्क्रिय अणुरूप होजाता है। उस समय न जीवों के

रहने का कोई आयतन है, न उनके कर्मभोग का कोई साधन है और न उनके बंध और मोक्ष की कोई व्यवस्था है; परन्तु जैन-शास्त्रोक्त प्रलयकाल में समस्त लोकों की व्यवस्था बनी रहती है और उसमें रहनेवाले जीव भी यथा कर्म फल भोगते रहते हैं। बंध और मोक्ष व्यवस्था भी ज्यों की त्यों बनी रहती है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारागण, स्वर्ग, नरक व मध्यलोक, अन्तर्गत जम्बूद्वीप आदि पृथिवियां भी यथा नियम स्थित रहती हैं। केवल जम्बूद्वीप अन्तर्गत सात क्षेत्रों में से भरत, ऐरावत क्षेत्र के अन्तर्गत आर्यावर्त खण्ड की ऊपर की किंचित् मात्र भूमि भूकम्प जलबाढ़ आदि कारणों से कुछ समय के लिये मनुष्य आदि कुछ प्राणियों के रहने अयोग्य हो जाती है" (देखो पेज ४२—४३ ।

इससे प्रगट है कि जैन शास्त्र विवादस्थ प्रलय का समर्थन नहीं करते !

इस पर आर्यसमाज ने जम्बूद्वीप के इस भाग की प्रलय को ही वर्तमान जगत की प्रलय सिद्ध करने की चेष्टा की है, किन्तु वह इसमें असफल रहा है। आर्यसमाज की इस असफलता के निम्नलिखित कारण हैं:--पहिला यह कि वह जैन शास्त्रों के आधार से सूर्य और चन्द्र आदिक के अभाव को प्रमाणित नहीं कर सका, दूसरा यह है कि ऐसी अवस्था में भी ये सब पदार्थ विद्यमान रहते हैं इस बात का वर्णन जैनशास्त्रों में मौजूद है और तीसरा यह है कि जम्बूद्वीप का यह भाग ही समस्त जगत

प्रमाणित नहीं होता। इस बात के समर्थन में जैनसमाज ने अनेक वैदिक प्रमाणों का उल्लेख किया है। प्रलय के सम्बन्ध में आर्यसमाज और जैनसमाज की तरफ़ से जिन जैन शास्त्रों का उल्लेख किया गया है उनसे यह बात प्रमाणित नहीं होती कि जैनशास्त्र जगत के समस्त परमाणुओं का चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष की तो बात ही दूर है एक समय के लिए भी भिन्न २ होना मानते हैं। अतः आर्यसमाज का अपनी प्रलय की सिद्धि में जैन शास्त्रों का सहारा लेना व्यर्थ ही है।

आर्यसमाज ने इसके समर्थन में दूसरी बात व्यष्टि और समष्टि की लिखी है। समाज का कहना है कि जो बात अवयव में होती है वही अवयवी में भी होती है। वियोग जगत के एक अवयव में प्रत्यक्षसिद्ध है; अतः यही बात जगत रूप अवयवी में भी माननी पड़ती है। यही प्रलय है। (देखो पे० १०७)।

इसका खण्डन करते हुए जैनसमाज ने बतलाया है कि प्रथम तो यह नियम ही असिद्ध है; जगत को ही ले लीजियेगा—इसमें किसी एक मकान के गिरने से जगत नष्ट नहीं होता। दूसरी बात यह है कि जैसे जगत में किसी का वियोग होता है, उस ही प्रकार किसी का संयोग भी; तथा ये दोनों बातें एक समय होती हैं, फिर यह कैसे होसकता है कि वियोग से प्रलय को माना जावे और संयोग से स्थिति को नहीं।

आर्यसमाज इस आपत्ति का निराकरण बिलकुल नहीं कर सका है, अतः आर्यसमाज की यह युक्ति भी प्रलय के समर्थन में असमर्थ ही रही है ।

प्रलय के समर्थन में आर्यसमाज ने तीसरी बात विज्ञान की लिखी है । आर्यसमाज का कहना है कि विज्ञान जगत के प्रलयवाद को स्वीकार करता है । प्रमाण में निम्न लिखित वाक्य उपस्थित किये हैं:—

पेज ९२—९४ के अंगरेज़ी वाक्य और उनका हिन्दी अनुवाद (देखो पे० ९२--९४) ।

जैनसमाज ने इसका समाधान पेज १०० से १०४ के पहिले पैरेग्राफ़ तक में प्रकाशित वाक्यों द्वारा किया है ।

आर्यसमाज ने अपने अगले वक्तव्यों में इस बात के सम्बन्ध में सांस भी नहीं ली । इससे स्पष्ट है कि आर्य-समाज की विज्ञान की बात भी उसके लिए घातक ही प्रमाणित हुई है । इन युक्तियों के अतिरिक्त अन्य कोई युक्ति आर्य-समाज ने प्रलय के समर्थन में उपस्थित नहीं की ।

प्रलय के अभाव के समर्थन में जैनसमाज ने निम्न लिखित बातें उपस्थित की हैं :—

(१) अक्षिताः वै लोकाः (शतपथ ब्राह्मण–१२·३·४ ११) अर्थात् लोक अनन्त है ।

(२) वैज्ञानिक उल्लेख जिनको आर्यसमाज के प्रलय सम्बन्धी प्रमाणों की आलोचना के समय लिख चुके हैं ।

आर्यसमाज ने शतपथ के अर्थ को बदलने की चेष्टा की है और इस ही लिए उसको एक अर्थ के बाद दूसरा अर्थ करना पड़ा है—

एक जगह लिखा है "प्रश्न--शतपथ में लोक को नित्य बतलाया है। उत्तर--वहाँ प्रवाह से नित्यता बतलाई है न कि स्वरूप से" (पेज ७४) और दूसरी जगह "अक्षिता का अर्थ न्यूनता का अभाव है अर्थात् यह संसार पूर्ण ज्ञानी का निर्मित है, इसलिये इसमें कोई त्रुटि नहीं है यह भाव है" लिखा है (देखो पेज ११४)।

झूंठा अर्थ करने में जैसी गड़बड़ी होनी चाहिये थी वैसी ही यहाँ हुई है; अतः अक्षिता शब्द का वास्तविक अर्थ अनन्तता ही है और यह आर्यसमाज की प्रलय के प्रतिकूल है। अतः स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य प्रलयवाद के प्रतिकूल है।

प्रलय के सम्बन्ध में एक महत्वशाली घटना हुई है, और वह यह है कि अन्त में आकर जब आर्यसमाज का कुछ भी बस नहीं चला तब उसने आर्यसमाज की प्रलय की व्याख्या को स्वीकार करने से ही इन्कार कर दिया।

आर्यसमाज ने प्रलय का स्वरूप ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पेज ५ पर निम्न लिखित स्वीकार किया है:—

"हजार चतुर्युगी पर्यन्त सृष्टि को मिटा के प्रलय अर्थात् कारण में लीन रखता है उसका नाम ब्रह्म रात्रि रक्खा है

अर्थात् सृष्टि के वर्तमान होने का नाम दिन और प्रलय होने का नाम रात्रि है। यह जो वर्तमान ब्रह्म दिन है, इसके एक अरब छियानवें करोड़ आठ लाख बावन हज़ार नौ सो छियत्तर वर्ष इस सृष्टि को तथा वेदों की उत्पत्ति में व्यतीत हुए हैं और दो अरब तेतीस करोड़ बत्तीस लाख सत्ताईस हज़ार चौबीस वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाक़ी हैं"।

इससे स्पष्ट है कि चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष तक प्रलय रहती है और इतने ही समय तक सृष्टि। प्रलय से तात्पर्य जगत के कारण रूपमें—परमाणु रूप में—रहने से है और सृष्टि से कार्य रूप—परमाणु संयोग रूप—से है। सत्यार्थ प्रकाश में भी लिखा है कि "सृष्टि उसको कहते हैं जो पृथक द्रव्यों का ज्ञान युक्तिपूर्वक मेल होकर नाना रूप बनना" (मन्तव्यामन्तव्य नं० ८)। यही विवेचन जैन समाज ने अपने पहिले वक्तव्य से आख़ीर तक आर्यसमाज के सामने रक्खा है।

आर्यसमाज ने प्रलय की इस व्याख्या को अस्वीकार करते हुए निम्नलिखित शब्द लिखे हैं:—"अबकी बार आपने चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष तक परमाणुओं को फिर भिन्न २ बतला दिया। श्रीमान् जी! ऐसी ही भ्रान्तियों से तो आपने इतने पत्र काले किए हैं परन्तु फिर भी वही रफ़्तार है। भगवन्! हम ऐसा नहीं मानते। जिस प्रकार रात्रि के ठीक बारह बजे पश्चात् दिन प्रारम्भ हो जाता है उसी तरह प्रलय की अन्तिम अवस्था समाप्त होते ही कुछ काल के पश्चात् सृष्टि

प्रारम्भ हो जाती है; इसही प्रकार सृष्टि काल के मध्य भाग से प्रलय प्रारम्भ हो जाती है'।

विचार शील पाठक स्वयं समझ सकेंगे कि आर्यसमाज पानीपत ने आर्यसमाज की मान्यता को कितना निर्बल समझा है। यदि ऐसा न होता तो वह उसका त्याग न करता। कुछ भी सही; इस से यह तो निःसन्देह प्रमाणित है कि आर्यसमाज का प्रलयवाद मिथ्या है।

इन सब बातों का स्पष्ट परिणाम यही है कि आर्यसमाज अपनी प्रलय की मान्यता के समर्थन एवं उसके निराकरण में दिये गये प्रमाणों के निराकरण में असफल रहा है।

जगत को कार्य-सृष्टि सिद्ध करने के लिए आर्यसमाज की तरफ़ से निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित किये गये हैं:—

(१) सृष्टि शब्द

(२) मूर्तिमान होने से

(३) जैन शास्त्र

(४) विज्ञान

आर्यसमाज के वक्तव्य का भाव यह है कि सृष्टि शब्द का अर्थ बना हुआ है, अतः यह शब्द ही जगत को कार्य सिद्ध कर करता है।

इसके जवाब में जैनसमाज ने लिखा है कि सृष्टि से तात्पर्य यहां भिन्न २ परमाणुओं को मिलाने से है तथा सृष्टि शब्द का अर्थ इससे भिन्न है। सृष्टि शब्द का अर्थ तो

ध्रौव्य व्यय युक्त उत्पाद है। आर्यसमाज कार्य का लक्षण स्वयं भावत्वे सति विनाशित्वं स्वीकार कर चुका है।

दूसरी बात यह है कि हम जगत को सृष्टि मानते भी नहीं हैं। आर्यसमाज का कर्तव्य है कि वह उसको पहिले सृष्टि और फिर ईश्वर कर्तृक सिद्ध करता। इसका जवाब आर्यसमाज से कुछ भी नहीं बन सका और उसने केवल यह कह कर टाल दिया है कि जैनियों ने नया व्याकरण बना लिया है।

अतः स्पष्ट है कि आर्यसमाज का यह हेतु जगत को कार्य सिद्ध करने में असफल रहा है।

मूर्तिमान साधन के सम्बन्ध में आर्यसमाज ने निम्न-लिखित वाक्य लिखे हैं:—"यह सृष्टि एक मूर्तिमान् अर्थात् स्थूल इन्द्रियों का विषय है, इसलिए कार्य है। जो २ पदार्थ मूर्तिमान होता है वह २ कार्य होता है; जैसे मकानादि। *तथा जो २ पदार्थ स्थूल इन्द्रियों का विषय नहीं है वह २ कार्य भी नहीं है*"।

आर्यसमाज का यह साधन सबल है या निर्बल इस बात के अतिरिक्त इससे एक और बात भी मालूम होती है और वह शास्त्रार्थ-कर्ता आर्यसमाज के विद्वान का पांडित्य है। आपने व्यतिरेक दृष्टांत को घटित करने के लिए साधन के अभाव में साध्य का अभाव दिखलाया है; जैसा कि "जो २ पदार्थ स्थूल इन्द्रियों का विषय नहीं है वह २ कार्य भी नहीं हैं" रेखाङ्कित वाक्य से प्रगट है। साध्य के अभाव में साधन के अभाव दिखलाने को व्यतिरेक दृष्टांत कहते हैं, यह एक साधा-

रण बात है। क्या आर्यसमाज इससे यह शिक्षा लेगा कि वह आज ही से जैनियों के समक्ष जिस विद्वान को उपस्थित करे वे न्यायशास्त्र के ज्ञाता होने चाहियें!

प्रतिवादि जिधर से मस्तक उठावे उधर ही से दबा देना चाहिये, इसके अनुसार जैनविद्वान् ने आर्यसमाज के इस ढंग के वक्तव्य पर ही आपत्ति उपस्थित करदी और बतला दिया है कि जो २ पदार्थ स्थूल इन्द्रिय का विषय नहीं है वह २ कार्य भी नहीं है; आर्यसमाज का यह वक्तव्य झूठा है। द्वयणुक—दो परमाणुओं का समुदाय स्वरूप कार्य—स्थूल इन्द्रिय का विषय नहीं है, यह एक सर्व मान्य बात है; फिर भी उसको उभयवादि ने ही कार्य रूप माना है। अतः इसही से आर्यसमाज का नियम खंडित है। अगाड़ी चलकर आर्यसमाज ने इसही को—स्थूल इन्द्रियविषयत्व को—कार्य का लक्षण बतलाया है। उस जगह भी जैनसमाज की तरफ़ से इसही द्वयणुक से अव्याप्ति-दूषण दे दिया गया है।

इन दूषणों के निराकरणार्थ आर्यसमाज ने निम्नलिखित वक्तव्य उपस्थित किये हैं:—

"मैं ने जो कार्य का लक्षण स्थूल इन्द्रियों का विषय होना किया था उसको भी आपने असिद्ध इसलिये बतला दिया कि वह परमाणु समुदाय स्वरूप कार्य में नहीं रहता। धन्य है उस प्रभु की महिमा को जो स्वयं आपसे ही उपरोक्त शब्द लिखवा दिये। श्रीमान जी! यह संसार कार्य है या नहीं,

यही तो साध्य था; इसी को आपने परमाणु समुदाय स्वरूप में भी स्वीकार कर लिया है" (देखो पेज ३४)।

जैन समाज ने आर्यसमाज के साधन में द्वयणुक—दो परमाणुओं के समुदाय से—दूषण दिया था; अतः इससे उस ही को कार्य सिद्ध किया जा सकता है न कि जगत को। अतः आर्यसमाज का इसके आधार से जगत को कार्य सिद्ध करने की चेष्टा व्यर्थ है। दूसरे साधन और लक्षणों के दूषण तदवस्थ हैं (देखो पेज ४४)। इससे प्रगट है कि आर्यसमाज का यह साधन भी सदोष है।

जैन शास्त्रों के आधार से जगत को कार्य सिद्ध करने के लिए आर्य समाज ने निम्नलिखित शास्त्रों के निम्नलिखित उद्धरण उपस्थित किये हैं :—

(१) पंचास्तिकाय श्लोक ७४-८

(२) " " ५

इन दोनों श्लोकों के "त्रैलोक्यं यैर्निष्पन्नं" शब्दसमूह पर आर्यसमाज ने ज़ोर दिया है तथा यह अर्थ किया है कि "इन्हीं स्कन्धादि से ये तीन लोक उत्पन्न हुए हैं" (देखो पेज २)। किन्तु जब इससे भी कार्य न चला, क्योंकि यहां तो भिन्न २ परमाणुओं की रचना स्वरूप कार्य की आवश्यक्ता थी तब आर्यसमाज ने इसके अर्थ को ही बदल दिया है। आर्यसमाज का बदला हुआ इन शब्दों का अर्थ यह है कि "यैस्त्रैलोक्यं

निष्पन्नम् अर्थात् इन परमाणुओं से तीन लोक उत्पन्न हुए हैं" (देखो पेज ३२)।

दूसरी जगह यह लिखा है—"जबकि पंचास्तिकाय में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि सूक्ष्म परमाणुओं से ही ये तीन लोक उत्पन्न हुए हैं तो इस में भी आपत्ति क्यों ?" (देखो पेज ६६)।

इस पर जैनसमाज की तरफ से निम्नलिखित वाक्य लिखे गये हैं:—"हम कई बार लिख चुके हैं कि आर्यसमाज की सृष्टि और प्रलय का समर्थन जैनशास्त्र से नहीं होता, फिर भी समाज इन्हीं बातों को दोहराया करता है। मालूम होता है कि उसके घरेलू स्टाक में प्रमाणों का दिवाला निकल चुका है। पंचास्तिकाय के पाँचवें श्लोक को हम अपने पहिले पत्र में उद्धृत करके यह बतला चुके हैं कि यहाँ यैः शब्द का सम्बन्ध परमाणुओं से बिलकुल नहीं है, किन्तु नित्य अनादि निधन जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश, इन पांच द्रव्यों से है"। इस ही प्रकार श्लोक ७४—८ तक भी यैः शब्द का संबन्ध परमाणुओं से बिलकुल नहीं है। अतः सृष्टि के समर्थन में जैन शास्त्रों का सहारा लेना बिलकुल अनुचित है।

निष्पन्न शब्द का अर्थ भी यहां समुदाय स्वरूप ही है। यह कैसे हो सकता है कि जिनका समुदाय है वे अनादि हों और उसही परिस्थिति में हों, फिर उनका समुदाय अनादि न हो। काल, आकाशादिक द्रव्य अनादि हैं तथा अनादि से ही उस

ही स्थान पर तथा एक दूसरे से उस ही सम्बन्ध से सम्बन्धित है, फिर उनके सम्बन्ध को सादि कैसे माना जा सकता है ?

इससे प्रगट है कि आर्यसमाज की यह युक्ति भी जगत को कार्य—अभूत्वाभावित्व—प्रमाणित करने में असफल रही है।

वैज्ञानिक प्रमाण

जिन वैज्ञानिक उद्धरणों के अर्थ बदल कर आर्यसमाज ने प्रलयवाद के सिद्ध करने की चेष्टा की थी, उन ही से सृष्टि-वाद को भी। इन सबका, इनके मिथ्या अर्थों का और यथार्थ अर्थों का वर्णन हम प्रलयवाद के प्रमाणों की समीक्षा के समय ही कर चुके हैं। पाठक वहीं से देखने का कष्ट करें।

इससे प्रगट है कि आर्यसमाज की यह युक्ति भी उसके लिए घातक ही प्रमाणित हुई है।

कर्तृत्व

इसके संबंध में दो विषयों पर विशेष विचार हुआ है—एक ईश्वर स्वरूप और दूसरा कार्य के साथ कर्ता की व्याप्ति। ईश्वर स्वरूप के सम्बन्ध में आर्यसमाज की मान्यता है कि वह सर्व व्यापक, सर्व शक्तिमान् और सर्वज्ञत्वादि गुणयुक्त है। जैनसमाज की तरफ से आर्यसमाजी ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्न लिखित बाधायें उपस्थित की गई हैं:—"वह बुद्धि या ज्ञान जिससे आर्यसमाज उसको बुद्धिमान् या सर्वज्ञ मानता है उससे एक भिन्न पदार्थ है, यही वैशेषिक दर्शन का मन्तव्य

है जिसको कि आर्यसमाज प्रमाण मानता है। ऐसी हालत में यह कैसे कहा जा सकता है कि यह ज्ञान उसका है। यदि कहोगे कि वह समवाय से ईश्वर में रहता है, अतः उसका है तो समवाय भी तो इन दोनों से भिन्न पदार्थ है। वह समवाय भी ऐसा नियम कैसे कर सकता है कि यह ज्ञान परमात्मा में ही रहे और आकाश में न रहे। अतः परमात्मा बुद्धिमान् या सर्वज्ञ ही प्रमाणित नहीं होता" (देखो पेज १४)।

आर्यसमाज ने इसका निम्नलिखित समाधान किया है:—"यद्यपि गुण गुणी से भिन्न पदार्थ है तथापि यह नित्य सम्बन्ध से रहते हैं; नित्य सम्बन्ध से रहने के कारण परमात्मा से ज्ञान का अभाव नहीं हो सकता"। इस पर जैनसमाज की तरफ़ से फिर निम्नलिखित आशंका उपस्थित की गई है:—"हमने लिखा था कि परमात्मा भिन्न पदार्थ है और बुद्धि भिन्न; फिर उनका नित्य सम्बन्ध कैसा ? समवाय सम्बन्ध अचेतन और अनियामक है (तथा इन दोनों से एक भिन्न तत्त्व है) वह भिन्न गुण का सम्बन्ध एक नियमित द्रव्य से ही नहीं करा सकता। अतः हमारा यह प्रश्न खड़ा रहता है कि ज्ञान का सम्बन्ध आकाश से क्यों नहीं होता ? परमात्मा ही से क्यों होता है ? (देखो पे० १२१)।

आर्यसमाज इसका कुछ भी समाधान नहीं कर सका है; अतः यह बात खड़ी ही रही है।

इसके अतिरिक्त स्वयं वैदिक साहित्य परमात्मा को

अज्ञानी, भययुक्त, गर्भ में रहने वाला, तपश्चरण करने वाला, पुत्रवान, मैथुनकर्त्ता और पापों का नाशक स्वीकार करता है (देखो पेज ८२)।

इसके समाधान स्वरूप आर्यसमाज ने निम्नलिखित वक्तव्य उपस्थित किया है:—"आपने यहां पर यजुर्वेद अ० ५ मंत्र ६ से परमात्मा को अज्ञानी बतलाया, जहां गुरु शिष्य का संवाद है। शिष्य के संवाद को परमात्मा में घटा दिया है। दूसरे यजुर्वेद अ० ७ मंत्र ३७ में "अभयं कृणु हि विश्वतो नः" इस जीवों की प्रार्थना को ईश्वर की बतलाकर लोगों की आंखों में धूल झोंकी है। यही अन्य प्रमाणों का हाल है। तप का वास्तविक अर्थ "यस्य ज्ञानमयंतपः" ऐसा उपनिषदों में कहा है। मैथुन के लिये आप ने कोई प्रमाण ही नहीं दिया..... (देखो पे० ११४)।

जैन समाज ने इन बातों का समाधान निम्नलिखित वाक्यों द्वारा किया है :—"हमने आर्यसमाज के परमात्मा में अज्ञान आदि का सद्भाव प्रमाणित किया था। मालूम होता है कि इस पर आर्यसमाज भड़क गया है जो कि अनुचित है। यदि स्वामी दयानन्द का भाष्य ही इस बात को प्रमाणित करता है तो फिर भड़कने की कौनसी बात है। देखो यजुर्वेद ५-६— 'इसलिये हे परमेश्वर.....मैं और आप पढ़ने और पढ़ाने हारे दोनों प्रीति के साथ बरत कर विद्वान् धार्मिक हों जिससे दोनों की विद्या वृद्धि सदा होवे'। इसी प्रकार देखो यजुर्वेद ७-३७—

'ईश्वर कहता है कि हे.....उन संग्रामों को दूर कर और हम लोगों को सब जगह से भयरहित कर'। अब आर्यसमाज सोचे कि उसका मान्य भाष्य उसके मान्य परमात्मा को अज्ञानी और भयभीत बतलाता है या नहीं। तप के सम्बन्ध में आर्यसमाजने लिखा है कि 'यस्य ज्ञानमयं तपः', किंतु उसको सोचना चाहिये कि परमात्मा उसकी दृष्टि से तो अनादि सर्वज्ञ है; फिर वह ज्ञान के लिये क्यों प्रयत्न करता था।..... क्या यह आपके शतपथ का प्रमाण परमात्मा के मैथुन विषय को प्रमाणित नहीं करता; ज़रा उसे ध्यान से पढ़ें"। (देखो पेज १२२)।

आर्यसमाज अपने अगले वक्तव्यों में इन बातों के सम्बन्ध में मौन रहा है। जैन समाज ने अपने अगले वक्तव्य में परमात्मा के मैथुन के प्रश्न को भी निम्नलिखित वाक्यों द्वारा स्पष्ट कर दिया है—

"आर्यसमाज ने परमात्मा के मैथुन विषय पर भी एक प्रश्न किया है, इसके उत्तर में देखो शतपथ १४-४-२-११० 'पुरुष विधः सोनुवीक्ष्य' से 'यम एवं वेद' तक। अर्थात् 'पहले पहल पुरुषाकार केवल एक ही आत्मा थी; उसने अपने आपको देखा, उसने ब्रह्म कहा और उसका नाम अहं कहने से अहम् हो गया। उस अहं को अकेले में मज़ा नहीं आया, क्योंकि दुनियाँ में किसी भी अकेले को मज़ा नहीं आता; उसने दूसरे की इच्छा की और उसका शरीर इतना स्थूल

हो गया कि जिससे एक स्त्री और एक पुरुष निकले; अतः इतने शरीर को दो भागों में विभाजित किया—एक का नाम स्त्री और दूसरे का नाम पुरुष रक्खा गया। इन दोनों से सम्पूर्ण स्त्री पुरुष उत्पन्न हुए। स्त्री ने देखा कि उसने मुझे अपने शरीर से उत्पन्न करके मुझसे विषय भोग किया है; इस लिए वह लज्जित हुई और मारे रंज के गाय बन कर छिप गई; मगर पुरुष ने भी उसका पीछा नहीं छोड़ा, वह भी फौरन बैल बन गया। इनके संभोग से गाय बैल हुए। फिर वही स्त्री घोड़ी बनी तो पुरुष घोड़ा बना, वह गधी बनी तो वह गधा बना, इत्यादि। इस प्रकार के मैथुन से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई'। और भी अगाड़ी बढ़िये और गोपथ १-१-३ देखिये" (देखो पेज १५०)।

इन सब उल्लेखों से स्पष्ट है कि समाजी परमात्मा के सम्बन्ध में जिन बातों का वर्णन जैनसमाज ने किया है वह निराधार नहीं किन्तु वैदिक साहित्य उसका अक्षरशः समर्थन करता है।

ईश्वर कर्तृत्व

आर्यसमाज ने इसके समर्थन में निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित किये हैं :—

(१) कार्यत्व

(२) क्रिया बिना कर्ता के नहीं होती

(३) नियम

(४) जगत में आकृतिका सद्भाव

(५) नियमादिक आठ बातें

(६) कर्मफल

आर्यसमाज का कहना है कि पहाड़, पृथ्वी, नदी, सूर्य और चन्द्र आदि कर्तृजन्य हैं कार्य होने से । जो २ कार्य होता है वह २ कर्तृजन्य होता है; जैसे घट आदि । इससे ईश्वर जगतकर्त्ता प्रमाणित होता है । जैन समाज ने इस पर निम्न-लिखित आपत्ति उपस्थित की है:—"प्रथम तो प्रलय और सृष्टि के पहिले पहाड़, पृथ्वी, सूर्य और चन्द्र का अभाव और फिर होना—असिद्ध होने से कर्ता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । दूसरे आर्यसमाज ने इसके सम्बन्ध में जो भी प्रमाण उपस्थित किये हैं वे त्रुटिपूर्ण हैं । आर्यसमाज का कार्यत्व हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि यह ऐसे स्थान पर भी रहता है जहाँ कि कर्त्ता का सर्वथा अभाव है; जैसे यकायक पृथ्वी पर गिरे हुए बीज से पैदा हुआ वृक्ष या जङ्गल की आग से पैदा हुई राख । इसमें दूसरा दूषण विरुद्ध हेत्वाभास का है, क्योंकि यह कार्यत्व हेतु घट आदिक में सशरीर और असर्वज्ञ के ही साथ मिलता है तथा यहां भी ऐसा होने से सशरीर और असर्वज्ञ की ही सिद्धि कर सकेगा । अतः साध्य से विपरीत सिद्धि होने से आपका हेतु विरुद्ध हेत्वाभास बन जायगा । तीसरा दोष उस अनुमान में साध्य विकल दृष्टान्त का आता है, क्योंकि जैसा अशरीरी और सर्वज्ञ कर्ता आप सिद्ध करना

चाहते हैं वैसा आपके दृष्टान्त से घटित नहीं होता। अतः यह अनुमान मिथ्या है" (देखो पेज १२)।

आर्यसमाज ने इसका निम्नलिखित समाधान दिया है:—"कार्यत्व हेतु को व्यभिचारी बतलाकर आपने विचारे हेत्वाभास पर अन्याय किया है, क्योंकि जहां आपने व्यभिचाराभास दिखलाया है वह भी साध्य है; अतः आप उसको प्रमाण रूप से उपस्थित नहीं कर सकते' (देखो पेज० १७)।

कार्यत्व हेतु में व्यभिचार दोष के सम्बन्ध में अब विचारणीय यह है कि आया वह कार्य जिससे जैनसमाज ने कार्यत्व हेतु में दोषोद्भावन किया है साध्य है या नहीं। इसके सम्बन्ध में जैन समाज ने निम्नलिखित वाक्य लिखे हैं:— "आपका लिखना कि वह पेड़ और राख साध्यान्तर भूत है यानी वहां भी आपको कर्ता सिद्ध करना है। आपके सिद्धान्त के प्रतिकूल है; अतः ऐसा करने से आप अपसिद्धान्त निग्रह स्थान के पात्र हैं। स्वामी दयानन्द जी ने स्वयं सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि "कहीं २ जड़ के निमित्त से जड़ भी बन और बिगड़ जाता है जैसे परमेश्वर के रचित बीज पृथ्वी में गिरने और जलपाने से वृक्षाकार हो जाते हैं और अग्नि आदि के संयोग से बिगड़ भी जाते हैं" (सत्यार्थ प्रकाश पे० २१२ एडीशन १८)। इससे स्पष्ट है कि आपका साधन निश्चित व्यभिचारी है" (देखो पेज २८)।

आर्यसमाज के कार्यत्वहेतु में जैनसमाज ने ईश्वर

ज्ञानादिक से भी व्यभिचार दोष दिया है। देखो पे० २८। आर्य-समाज अपने इस हेतु के सम्बन्ध में आपत्तियों को दूर करने में सर्वथा असमर्थ रहा है। जङ्गल की आग से पैदा हुई राख और वृक्ष के सम्बन्ध में तो उसने सत्यार्थ प्रकाश का उल्लेख मिल जाने पर पूर्ण मौन का आश्रय लिया है। इन सब बातों के आधार से स्पष्ट है कि आर्यसमाज का कार्यत्व हेतु कर्तृत्ववाद के समर्थन में पूर्ण असफल रहा है।

क्रिया बिना कर्ता के नहीं होती

आर्य समाज के इस साधन में भी जैनसमाज की तरफ़ से अनेक आपत्तियाँ उपस्थित की गई हैं। दृष्टान्त के रूप से व्यभिचार दूषण को ही ले लीजियेगा। जैन समाज ने बतलाया है कि आर्य समाज के प्रवर्त्तक स्वा० दयानन्द जी भी इस बात को स्वीकार नहीं करते। प्रमाण के रूप में सत्यार्थप्रकाश की वे ही लाइनें जिनको हम कार्यत्व हेतु की समीक्षा के समय लिख चुके हैं उपस्थित की जा सकती हैं।

स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश की इन पंक्तियों में स्पष्ट स्वीकार किया है कि जड़ के निमित्त से भी कार्य होते हैं। ऐसे कार्यों में क्रिया तो मौजूद है, किंतु कर्ता का अभाव है; अतः यह हेतु इससे व्यभिचारी है। आर्यसमाज इस हेतु के दोषों का निराकरण भी नहीं कर सका है; अतः स्पष्ट है कि आर्यसमाज का यह हेतु भी सदोष है।

कहीं २ इसही युक्ति को आर्यसमाज ने "ज्ञानपूर्वक

क्रिया" के रूप से लिख दिया है। इसमें भी जैन समाज ने इनही दोषों को उपस्थित किया है (देखो पेज १२)।

नियम, आकृति और नियमादिक आठ बातें

आर्यसमाज ने इसके सम्बन्ध में निम्नलिखित वाक्य लिखे हैं:—"संसार में सूर्य आदि में नियम है तथा पृथ्वी के भी प्रत्येक पदार्थ में हम नियमपूर्वक क्रिया देखते हैं, अतः इस नियम का कोई नियामक होना ही चाहिये" (देखो पेज ३)।

"प्रत्येक वस्तु जो बनी हुई होती है उसमें निम्न बातें होती हैं:—एक तो वह वस्तु तथा दूसरी आकृति। वस्तु तथा वस्तु के गुण उपादान कारण से आते हैं, परन्तु आकृति तो हमेशा कर्ता के दिमाग़ से आती है।.....और भी अनेक बातें हैं जिनसे सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर सिद्ध होता है; यथा नियम, प्रयोजन—कोई वस्तु निरर्थक नहीं है, विशालता—विशालता भी कारीगरी की सूचक है, दृढ़ता, सौन्दर्य, विचित्र कारीगरी जैसे मनुष्य का शरीर, सुव्यवस्था और निर्देश शक्ति" (देखो पेज ५५)।

जैनसमाज ने इनके उत्तरस्वरूप निम्नलिखित बातें लिखी हैं:—"आकृति की व्याप्ति कर्ता के साथ नहीं, यदि ऐसा स्वीकार कर लिया जाय तो परमाणु का भी कर्ता मानना पड़ेगा, क्योंकि यह भी वस्तु होकर आकृति वाला है। यदि परमाणु में आकृति न मानी जायगी तो इसके समुदायस्वरूप स्कन्ध में कैसे आ सकती है। दूसरी बात यह भी है कि आकृति

तो उन पदार्थों में भी है जोकि केवल जड़ के ही निमित्त से होते हैं। कौन कह सकता है कि जङ्गल की आग से पैदा हुई राख में आकृति नहीं है, फिर भी वहां कर्ता स्वीकार नहीं किया गया। तीसरी बात यह है कि परमात्मा के ज्ञान में आकृति नहीं हो सकती, क्योंकि आकृति उसमें आती है जो कि पहिले आकृति रहित हो.....यदि परमात्मा के ज्ञान में आकृति मानी जायगी तो आर्यसमाज के नियमानुसार इसका कर्ता भी मानना होगा और जब उसमें आकृति बिना कर्ता के आसकती है तो बाह्य पदार्थों में क्यों नहीं। अन्य भी अनेक बातें इस बात का निराकरण करती हैं; अतः पदार्थों में आकृति के आधार से कर्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार नियम प्रयोजन आदि की व्याप्ति भी कर्तृजन्यता के साथ नहीं है! यह सब बातें आपके परमात्मा में मौजूद हैं; फिर भी आपने उसको कर्तृजन्य स्वीकार नहीं किया है।.....दूसरी बात यह है कि ये बातें जगत में हैं भी नहीं। जगत में नियम, प्रयोजन, सुन्दरता, विचित्रता, विशालता आदि का रहना अप्रमाणित है। कौन बुद्धिमान कह सकता है कि जगत में प्रत्येक कार्य नियमपूर्वक होता है? क्या पृथ्वी की ऊँचाई और नीचाई भी नियमानुकूल है? पहाड़ वगैरह का बेडौल और भद्दापन, जगत की सुन्दरता का खूब उपहास करता है। जगत में दुःखी, रोगी, अज्ञानी, पापी, भयभीत, चिन्तित और आपत्तियों से पीड़ित अधिकांश व्यक्ति नज़र आते हैं। इससे यह कैसे कहा जा सकता है कि

वह सर्व शक्तिमान, दयालु और सर्वज्ञ परमात्मा का कार्य है" (देखो पेज ५२-६१)। इसके अतिरिक्त भी जैन समाज की तरफ़ से नियम के स्वरूप आदि के सम्बन्ध में अनेक बातें उपस्थित की गई हैं। आर्यसमाज ने इनके सम्बन्ध में मौन धारण करना ही कल्याणकर समझा है। इन सब बातों के आधार से यह दृढ़ता पूर्वक कहा जा सकता है कि आर्यसमाज अपनी इन युक्तियों के समर्थन एवं उनके सम्बन्ध में उपस्थित की गई आपत्तियों और प्रश्नों के निराकरण करने में असमर्थ रहा है।

कर्मफल

आर्यसमाज ने इसका निम्नलिखित खुलासा उपस्थित किया है:—

"संसार में हम किसी को सुखी देखते हैं और किसी को दुःखी, इससे भी सृष्टिकर्ता का अनुमान होता है; क्योंकि कोई भी दुःखी नहीं होना चाहता और प्रकृति तथा कर्म जड़ हैं, वे एक चेतन को फल दे नहीं सकते, अतः जिसके नियमाधीन होकर यह जीव अपने कर्मों का फल भोग रहा है वह नियामक कोई बुद्धिमान है" (देखो पेज ७—८)।

आर्यसमाज ने जैनियों की इस मान्यता को भी कि कर्मों का फल कर्म ही देते हैं जैन शास्त्रों के कथन के प्रतिकूल प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में आर्य-समाज का वक्तव्य निम्न प्रकार है:—"कर्म स्वफल देते हैं यह जहाँ युक्ति से विरुद्ध है वहीं जैन शास्त्र भी इसका विरोध करते

हैं, क्योंकि जैन शास्त्रों में स्वर्ग तथा नरक का वर्णन है तथा नरक में असुर कुमार कर्मों का फल देते हैं और स्वर्ग में अप्सरायें सुख देती हैं" (देखो पेज ३९)। आर्यसमाज ने इन्हीं बातों को बार २ दोहराया है।

जिस प्रकार "क्या कर्मों का फल कर्मों के निमित्त से मिलता है" इसके लिए इतना ही यथेष्ट नहीं कि यह बात प्रमाणित कर दी जाय कि ईश्वर कर्मों का फल नहीं देता, किन्तु यह भी आवश्यक है कि इस बात को भी सिद्ध किया जाय कि कर्मों का फल कर्मों के निमित्त से ही हो सकता है, उस ही प्रकार "क्या ईश्वर कर्मफल प्रदाता है" इस बात के निर्णय के लिए केवल इतना ही पर्याप्त नहीं कि कर्मों का फल कर्म नहीं देते, किन्तु यह भी आवश्यक है कि इस बात को भी सिद्ध किया जाय कि ईश्वर कर्मों का फल देता है। आर्य-समाज ने इसके समर्थन में एक भी युक्ति उपस्थित नहीं की है। परमात्मा सर्वज्ञ है, न्यायकर्ता है, इस प्रकार की बातें काफ़ी नहीं हैं। सर्वज्ञता मुक्तात्माओं में भी मौजूद है, फिर भी वे कर्मों का फल देने वाली नहीं मानी गयीं। न्याय-कर्ता का कर्म-फल के साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जब यह बात सिद्ध हो जाय कि वह कर्मों का फल देता है तब उसको न्यायकर्ता माना जा सकता है; इस ही प्रकार न्याय-कर्त्ता होने पर कर्मफल प्रदाता। अतः इनमें से किसी एक से दूसरी बात को प्रमाणित नहीं किया जा सकता!

आर्यसमाज ने इस सम्बन्ध में यदि कोई बात लिखी है तो वह असुर कुमारों के सम्बन्ध की है। असुरकुमार नरकों में कर्मों का फल देते हैं, ये नरकों में न्यायाधीश का कार्य करते हैं, यह बात जैन शास्त्र नहीं बतलाते। असुरकुमारों का कार्य तो आपस में लड़ाई करना है, सो भी सबका नहीं किन्तु किन्हीं २ क्रूर परिणाम वालों का।

जैन समाज ने अपने वक्तव्य में असुर कुमार सम्बन्धी आक्षेप के सम्बन्ध में निम्नलिखित वाक्य लिखे हैं:—"असुर कुमार के सम्बन्ध में आर्यसमाज ने दोबारा भी भूल की है। उसे मालूम होना चाहिये कि हर एक असुर कुमार नरकों में जा कर लड़ाई नहीं कराते किन्तु कौतूहल वश वहां वे ही जाते हैं जो संक्लेश परिणामी होते हैं (देखो तत्त्वार्थ सूत्र ३—५)। जिस प्रकार यहां पर भी मनुष्य मुर्गे तीतर मेंढे आदि लड़ाते हैं और उसमें ही आनन्द मानते हैं उसी प्रकार वहां भी जानना चाहिये। जैसे यहां के आदमी न तो सब उसमें शामिल ही होते हैं और न इस बात का व्यापार ही करते हैं; किन्तु केवल मनोरंजन के लिए इस नीच कार्य को कुछ मनुष्य ही करते हैं, उसी प्रकार कुछ असुर कुमार जो युद्ध प्रिय होते हैं कौतूहल वश वहां जाते हैं। उनका काम नारकियों को उनके कर्मों का फल देना नहीं है" (देखो पेज १२६)।

आर्यसमाज ने भी अपने वक्तव्य में लिखा है—"तीसरे नरक तक असुर कुमार जाकर नारकियों को परस्पर लड़ाते

तथा कलह की प्रेरणा करते हैं" (देखो पेज ३९) । नारकियों को लड़ाना या कलह कराना न्यायाधीश का कार्य नहीं। यदि होता तो वे सब मनुष्य जो जानवरों को लड़ाते हैं न्यायाधीश समझे जाते। इससे प्रगट है कि कर्मों का फल चेतन न्यायाधीश देता है; इसके सम्बन्ध में जैन शास्त्रों को प्रमाणस्वरूप उपस्थित करना कार्यकारी नहीं। इसके सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि यदि अभ्युपगमसिद्धान्त से यह बात मानलो जाय कि कर्मों का फल असुर कुमार देते हैं तो इससे तो आर्यसमाज के ईश्वर-कर्तृत्व का खंडन ही होता है।

कर्म जड़ होने पर भी फल दे सकते हैं इसके सम्बन्ध में जैनसमाज की तरफ़ से निम्न दो बातें उपस्थित की गई हैं :—

"कर्म का फल कर्म ही देता है, इसका समर्थन आपके मान्य शास्त्र भी करते हैं—(१) क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीयः (योगदर्शन पाद २ सूत्र १२) अर्थात् पाँचों क्लेशों का मूल कर्मों का समूह प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष जन्म में जानने योग्य अर्थात् भोगने योग्य है। (२) धर्म जैमिनिरत एव (देखो वेदान्तसूत्र ३-२-४०) अर्थात् जीवात्मा को धर्म और अधर्म ही फल देते हैं, यह जैमिनी ऋषि का मत है.....।" (देखो पेज ६४)।

जैन समाज का इस सम्बन्ध में दूसरा वक्तव्य निम्नप्रकार है:—

"कर्म ही फल का दाता है इसका समर्थन भी हम

आर्यसमाज के मान्य शास्त्रों से कर चुके हैं। यहां पुनः उद्धृत करते हैं, देखिये—वेदान्तसूत्र २-३-४०, उपवेद चरक संहिता पृष्ठ ११३, श्वेता० उप० १-१-१-३, बृहदारण्यक ३-२-१३, छां० उप० ३-१४-१। हम पहिले लिख चुके हैं कि जिस कर्म का फल मिलता है वह कर्म जीवों का परिणाम है जिसको आर्य-समाज ने इच्छा के रूप में स्वीकार किया है। वह कर्म जो फल-दाता है जड़ रूप है। फ़ोनोग्राफ़ की प्लेट पर गाने की आवाज़ की तरह उन पर अच्छे बुरे भावों का संस्कार हो जाता है और संस्कारयुक्त जड़ पदार्थ परम सूक्ष्म रूप में आत्मा के साथ सम्बन्धित हो जाता है। पातञ्जलि ऋषि ने इस ही को आशय और कणादि ऋषि ने कारण शरीर या लिङ्ग शरीर आदि नामों से स्वीकार किया है। समय पाकर यही कर्म फ़ोनोग्राफ़ की प्लेट की तरह आत्मा को शुभाशुभ संस्कारों के अनुरूप फल देता है" (देखो पेज १४८)।

इन दोनों वक्तव्यों के अतिरिक्त भी अन्य बातें जैन समाज की तरफ़ से इसके संबंध में लिखी गई हैं। कुछ प्रश्न भी आर्य-समाज से कर्म और फल के लक्षण एवं इन संबन्धी अन्य बातों के सम्बन्ध में उठाये गये हैं और इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि ईश्वर कर्म-फल प्रदाता नहीं (देखो पेज ६२, ६४, १२६)।

दोनों तरफ़ के वक्तव्यों के आधार से यह प्रगट है कि आर्यसमाज की यह युक्ति भी ईश्वर को जगत का कर्ता प्रमाणित करने में असफल रही है।

इस प्रकार आर्यसमाज की युक्तियों में से एक भी इस प्रकार की प्रमाणित नहीं हुई जिससे ईश्वर को जगत का कर्ता स्वीकार किया जा सके।

जैन समाज की तरफ़ से ईश्वर के जगत कर्त्तावाद के खंडन के लिए निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित किये गये हैं:—

"(१) ईश्वर जगतकर्ता नहीं, इसके साथ अन्वय व्यतिरेक न मिलने से।

(२) ईश्वर जगतकर्ता नहीं, ईश्वर के अशरीरी एवं इच्छा रहित होने से।

(३) ईश्वर जगतकर्ता नहीं, नित्य सर्वव्यापक होने से।

(४) ईश्वर जगतकर्ता नहीं, आर्यसमाज के माननीय शास्त्रों के प्रतिकूल होने से। देखो शतपथ ब्राह्मण १२, ३, ४, १०, ११; ऋग्वेद १०, १२, ९, १, ६-७; सांख्यदर्शन १, ९२; ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पेज ११७।

(५) पृथ्वी रची हुई नहीं हमारे द्वारा ग्रहण योग्य परिमाण के न होने से; आकाश की तरह।

(६) ईश्वर जगतकर्ता नहीं आधुनिक विज्ञान के प्रतिकूल होने से।

(७) ईश्वर जगतकर्ता नहीं, कार्य कारण के विरोध होने से। प्रमाण में अमैथुनो पैदायश।

(८) ईश्वर जगतकर्ता नहीं जगत के अनादि होने से।"

[देखो पेज १४]

जगत के अनादित्व को, शतपथब्राह्मण—आर्यसमाज के माननीय शास्त्र—और वैज्ञानिक मान्यताओं से और जगत के ईश्वर कर्तृत्व में वैज्ञानिक प्रतिकूलता को हम पूर्व ही—प्रलय के प्रकरण में—स्पष्ट कर चुके हैं।

वैदिक प्रमाणों से भी साफ ज़ाहिर है कि वेदों के रचयिताओं को यह पता भी नहीं था कि सृष्टि किसने बनाई या किसी ने नहीं बनाई; अतः आर्यसमाज के माननीय शास्त्रों का विरोध भी स्पष्ट है। अन्य साधनों के सम्बन्ध में विशेष खुलासे की आवश्यक्ता नहीं!

आर्यसमाज ने इन अनुमानों में से केवल दो पर कुछ वक्तव्य उपस्थित किया है। शेषों को तो यों ही टाल दिया है। यदि जैन समाज की तरफ़ से किसी हेतु के सम्बन्ध में विधिरूप बात लिखी है तो आर्य समाज ने निषेध रूप लिख दी है। अपने वक्तव्य के समर्थन में किसी प्रकार के प्रमाण आदि उपस्थित नहीं किये। दो अनुमानों में से—जिन पर आर्यसमाज ने थोड़ा बहुत लिखा है—एक तो अन्वय व्यतिरेक वाला है और दूसरा आर्यसमाज के माननीय शास्त्रों के प्रतिकूल होने से हेतुवाला। अन्वय व्यतिरेक के सम्बन्ध में आर्यसमाज ने दो स्थानों पर परस्पर विरोधी निम्नलिखित दो वक्तव्य उपस्थित किये हैं:—

"श्रीमान् जी सृष्टिकर्त्ता में जो आपने अन्वय व्यतिरेकाभाव दोष बतलाया है, यह भी अनुचित है, क्योंकि आपके

यहां भी तो आकाश काल सर्व व्यापक एवं नित्य है। पुनः उनमें भी यही दोष आवेगा। अतः यहां यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता, क्योंकि यह एक देशी पदार्थ के लिए उठता है" (देखो पेज १७)। "अन्वय व्यतिरेक का अभाव ईश्वर में कैसे हो सकता है जब कि आपके काल, आकाश आदि में नहीं है" (देखो पेज ३५)। आर्यसमाज के इन दोनों वक्तव्यों का परस्पर विरोध अति स्पष्ट है। अतः विशेष खुलासे की आवश्यकता नहीं। काल और आकाश की जैन मान्यता और आर्यसमाज की ईश्वर मान्यता में क्या अन्तर है, इसके निमित्त जैनसमाज ने इस शास्त्रार्थ में निम्नलिखित वक्तव्य उपस्थित किया है:—

"अन्वय व्यतिरेक एक देशीय कार्य कारण के सम्बन्ध में ही होता है, यह आपकी भ्रान्ति है। यह सर्वव्यापक कार्य कारण में भी उस ही प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार कि अव्यापक में। अन्वय व्यतिरेक एक देशीय में होता है, आपके इस लिखने से यह ज़ाहिर है कि आप ईश्वर रूप कारण के साथ उसके कार्य का अन्वय व्यतिरेक असिद्ध मानते हैं। वस्तु का परिणमन दो प्रकार का होता है—एक पर्याय से पर्यायान्तर रूप अर्थात् अपरिस्पन्दात्मक, दूसरा देश से देशान्तर रूप अर्थात् परिस्पन्दात्मक। आकाश में अपरिस्पन्दात्मक परिणमन है मगर उसमें परिस्पन्दात्मक परिणमन नहीं है। इसलिए आकाश निष्क्रिय होकर भी परिणमनशील है। अतः क्षेत्र भेद से आकाश में अन्वय व्यतिरेक बन

जाता है"। काल को सर्व व्यापक जैनियों ने माना नहीं है। "इससे ज़ाहिर है कि ईश्वर में अन्वय व्यतिरेक न बनने से वह जगत का कर्ता नहीं है" (देखो पेज २५)।

आर्यसमाज ने अपना दूसरा वक्तव्य जो कि पेज ३५ से लिखा गया है इसके उत्तर स्वरूप दिया है। इन वक्तव्यों से स्पष्ट है कि आर्य समाज जैनियों के इस हेतु को—ईश्वर के साथ जगत के अन्वय व्यतिरेक के अभाव को—मिथ्या प्रमाणित करने में असमर्थ रहा है।

दूसरे अनुमान में आर्यसमाज ने उन वैदिक उल्लेखों का जिनको जैन समाज ने प्रमाण स्वरूप उपस्थित किया है केवल अर्थ बदलने की चेष्टा की है। बहुत सी ऐसी बातें लिख दी हैं जिनके लिए वेद मंत्र में कोई शब्द नहीं है। जैन समाज ने इसके सम्बन्ध में आर्यसमाज से निम्नलिखित प्रश्न पूछा था:—"आपका मंत्र का अर्थ बिलकुल मिथ्या है। आपने निमित्त कारण, आत्मा और प्रकृति में व्यापक परमेश्वर और सुखको प्राप्त नहीं होता आदि अर्थ इस मंत्र के किन शब्दों के आधार पर किये हैं" (देखो पेज ९१—९२)। इस पर आर्य-समाज से जब कुछ भी जवाब न बन पड़ा तब कहता है पहिले मंत्रों में इस अर्थ के वाचक शब्दों की अनुवृत्ति आई है (देखो पेज ११४)। इसपर भी जब जैन समाज ने पूछा कि वे कौनसे शब्द हैं तथा किन २ मंत्रों से लिये गये हैं ? तब फिर आर्य-समाज को चुप्पी ही साधनी पड़ी है (देखो पे० १२३)। इस

मंत्र का आर्यसमाज द्वारा बदला हुआ अर्थ पे० ७४ पर देखना चाहिये।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि जैनियों का यह हेतु भी अखंडित ही प्रमाणित हुआ है। कर्तावाद के खंडन के अन्य अनुमानों के सम्बन्ध में तो हम पूर्व ही लिख चुके हैं; अतः प्रगट है कि जैनियों के कर्तावाद के खण्डन के सम्पूर्ण अनुमान ईश्वर के कर्तावाद का खंडन करने में सफल हुए हैं।

आर्य समाज ने इस शास्त्रार्थ में समय २ पर निम्न-लिखित बातें स्वीकार की हैं:—

"मैं आपको यह बतला देना चाहता हूँ कि आर्यसमाज ऐसा नहीं मानता कि परमाणु किसी समय भी क्रिया रहित होते हैं परन्तु परमाणु आपही की तरह निमित्त कारण से हमेशा सक्रिय रहते हैं यह मानता है" (देखो पेज ८७—८८)।

"प्रतीत होता है आपको यहाँ यह भ्रम हो गया है कि कर्तृत्व प्रलयकाल में नहीं रहता; सो मैं आपको बतला देना चाहता हूँ कि प्रलय काल में भी ईश्वर-कर्तृत्व अब के समान ही सिद्ध रहता है, क्योंकि संश्लेषणात्मक और विश्लेषणात्मक कार्य होते हैं" (देखो पेज ११३)।

निष्कर्ष

जहां आर्यसमाज ईश्वर को जगत कर्ता मानता है वहीं उसने इसके सम्बन्ध में एक प्रणाली विशेष भी स्वीकार की है। आर्यसमाज का कहना है कि जब इस जगत को चार अरब

बत्तीस करोड़ वर्ष होजाते हैं उस समय परमात्मा इसको कारण-रूप में—परमाणु रूप में—कर देता है। इसही प्रकार जब परमाणु रूप अवस्था में भी इतना ही समय—चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष—व्यतीत होजाता है तब परमात्मा फिर इन भिन्न २ परमाणुओं को मिलाकर कार्य रूप जगत की रचना करता है। इस कारण रूप अवस्था का नाम प्रलय और इस कार्य रूप अवस्था का नाम सृष्टि है। इस ही प्रकार कारणरूप अवस्था का करना प्रलयकारित्व और कार्यरूप अवस्था का करना सृष्टि कर्तृत्व है।

आर्यसमाज प्रलय और सृष्टि के ये ही लक्षण मानता है, इस बात का समर्थन इस शास्त्रार्थ में जैन समाज ने उनही के माननीय शास्त्रों के आधार से कर दिया है। पाठकों की सुविधा के लिये हमने भी इनको प्रलय सम्बन्धी युक्तियों की परीक्षा के समय इस ही भूमिका में आर्यसमाज के माननीय शास्त्रों के आधार से लिख दिया है।

आर्यसमाज की मान्यता के अनुसार ईश्वर को सृष्टि-कर्त्ता प्रमाणित करने के लिए प्रलयावस्था, समस्त जगत की परमाणु रूप में स्थिति, सृष्टि, इन भिन्न २ परमाणुओं का संयोग और उसमें ईश्वर का व्यापार प्रमाणित होना अनिवार्य है। यदि जगत की प्रलयावस्था ही प्रमाणित नहीं होती तब फिर उसकी सृष्टि और उसमें ईश्वर के व्यापार के होने की बात ही पैदा नहीं होती। आर्यसमाज की तरफ से इस

शास्त्रार्थ में प्रलय के समर्थन में जितनी भी युक्तियाँ उपस्थित की गई हैं उनसे समाज को प्रलय प्रमाणित नहीं होती, इस बात का हम बड़ी विषदता के साथ विचार कर चुके हैं। प्रलय की सिद्धि की बात तो दूर रही, आर्यसमाज की तरफ़ से उपस्थित किये गये वक्तव्यों में तो इस प्रकार की बातें मौजूद हैं जिनसे प्रलय का अभाव प्रमाणित होता है। आर्य-समाज के पेज ८७—८८ और पेज ११३ के वक्तव्यों को हमने अपने इस निष्कर्ष से पूर्व ही उद्धृत किया है। इनमें आर्य-समाज ने खुले शब्दों में प्रति समय संयोग और वियोग को स्वीकार किया है। साथ ही वहीं यह भी स्वीकार किया है कि "प्रलयकालमें भी ईश्वर-कर्तृत्व अबके समान सिद्ध रहता है"।

इससे बढ़कर प्रलय का और क्या खंडन होसकता है। जब आर्यसमाज ने ही प्रति समय संयोग को स्वीकार कर लिया है तब चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष तक परमाणुरूप अवस्था की बात ही उपस्थित नहीं होती। प्रलय के अभाव में सृष्टि की तो बात ही क्या, जब वियोग ही नहीं है तब संयोग कैसा ? संयोग का लक्षण ही वियोग पूर्वक मिलता है। ‡

संयोग के अभाव में संयोगनिमित्त ईश्वर व्यापार का भी अभाव हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि यदि जैनसमाज की तरफ़ से उपस्थित किये गये प्रमाणों को छोड़ भी दिया जाय तब भी आर्यसमाज के वक्तव्यों में इतनी सामिग्री मौजूद

‡ (१) अप्राप्ति पूर्विका हि प्राप्तिसंयोगः —वैशेषिक दर्शन।

है जिससे ईश्वर-कर्तृत्व के स्थान पर इससे विपरीत ही प्रमाणित होता है।

जहां कि आर्यसमाज ने प्रति समय संयोग के अस्तित्व को स्वीकार किया है वहीं स्वा० दयानन्द जी ने जड़ के निमित्त से भी क्रिया—कार्य—का होना स्वीकार किया है। स्वामी जी के इस सम्बन्धी वाक्य को हम पूर्व भी लिख चुके हैं और पाठकों की सुविधा के लिए फिर भी लिखे देते हैं—"कहीं २ जड़के निमित्त से जड़ भी बन और बिगड़ जाता है……"। इससे प्रगट है कि कार्य के लिए बुद्धिमान कर्त्ता का होना अनिवार्य नहीं। अतः जिस प्रकार प्रति समय संयोग के स्वीकार करने से जगत के कारण रूप से—परमाणु रूप से—कार्य-रूप में लाने और उसमें ईश्वर व्यापार की आवश्यक्ता की बात पैदा नहीं होती, उसही प्रकार जड़के निमित्त से भी कार्य के होने से स्थितिरूप जगत में भी ईश्वर व्यापार का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता। अतः यह बात निःसन्देह मानने योग्य हो जाती है कि ईश्वर को जगत का कर्त्ता बतलाना मिथ्या है।

जैनं जयतु शासनम्।

अम्बाला छावनी
ता० ५ मार्च सन् १९३४ ई०

विनीत—
राजेन्द्रकुमार

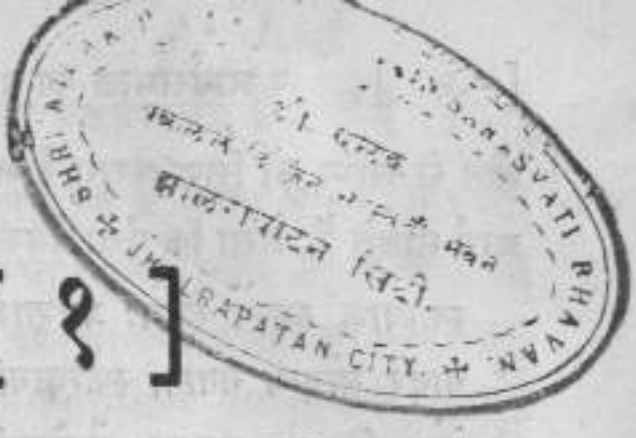

[१]

आर्यसमाज का पत्र

[तारीख ५-११-३३—समय ८ बजे प्रातः]

सृष्टि शब्द ही इस बात को सिद्ध करता है कि यह बना हुआ पदार्थ है। क्योंकि सृज धातुसे कर्म्म में क्तिन प्रत्यय करने पर सृष्टि शब्द बना है, जिसका अर्थ है बनी हुई चीज़। बस जब यह शब्द ही अपने वाच्य को कार्य सिद्ध करता है तो इसके कार्यत्व में अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती। परन्तु विषय को पुष्ट करने के लिये अन्य प्रमाण भी उपस्थित किये जाते हैं। यह सृष्टि एक मूर्तिमान् अर्थात् स्थूल इन्द्रियों का विषय है, इसलिये कार्य है। जो जो पदार्थ मूर्तिमान् होता है वह वह कार्य होताहै जैसे मकानादि। तथा जो २ पदार्थ स्थूल इन्द्रियों का विषय नहीं है वह वह कार्य भी नहीं है। यथा जीव परमाणु आकाश काल आदि। एवं जो स्थूल इन्द्रियों का विषय हो और कार्य न हो ऐसा भी कोई पदार्थ नहीं है। संसार स्थूल इन्द्रियों का विषय है इसमें सन्देह हो ही नहीं सकता; क्योंकि यह प्रत्यक्ष है। अतः उपरोक्त हेतु दोष रहित

होने से साध्य को सिद्ध करता है तथा जैनशास्त्र भी सृष्टि को कार्य मानते हैं, जैसा कि पंचास्तिकाय में लिखा है—

स्कन्धाश्च स्कन्ध देशाः प्रदेशाश्च भवन्तिपरमाणवः ।
बादर सौक्ष्म्य गतानां स्कन्धानां पुद्गल इति व्यवहारः ॥
ते भवन्ति षट् प्रकाराः त्रैलोक्यं यैर्निष्पन्नं ॥

—श्लोक ७४ से ७८ तक

येषां अस्ति स्वभावः गुणैः सह पर्यायैर्विविधैः ।
ते भवन्त्यास्तिकाया निष्पन्नं यैस्त्रैलोक्यम् ॥ —श्लोक ५

उपरोक्त श्लोकों का स्पष्टार्थ यह है कि जिसका पुनः विभाग न हो सके उसको परमाणु कहते हैं। तथा उसके प्रथम कार्य को प्रदेश कहते हैं। और उससे स्थूलको देश तथा उससे स्थूल को स्कन्ध कहते हैं। इन्हीं स्कन्धादि से ये तीनों लोक उत्पन्न हुए हैं। यही बात तत्त्वार्थसार में पं० वंशीधर जी ने लिखी है। श्लोकवार्तिक राजवार्तिक आदि में भी ऐसा ही है। अर्थात् सम्पूर्ण जैनशास्त्र इसको कार्य मानने में एक मत हैं। तथा संसार की समस्त वस्तुएं प्रत्यक्ष भी कार्य रूप में दृष्टिगत होती हैं। अतः इस सृष्टिका कार्यत्व निर्विवाद सिद्ध है। तथा च जहां जैनशास्त्र इस सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं वहाँ इसका प्रलय भी मानते हैं। देखो उत्तर पुराण पर्व ७६ श्लोक ४४६ से तथा त्रिलोकसार श्लो० ८६७ में भी प्रलय का वर्णन है तथा मोक्षशास्त्र में भी (भरत ऐरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षटसमाभ्यां अध्याय ३ सूत्र २७)। यद्यपि कुछ भाष्यकारोंका मतभेद भी

है फिर भी इन क्षेत्रों को प्रलय का तो वर्णन है ही। बस जब यह सृष्टि उत्पन्न होती है तथा इसका प्रलय भी होता है तो इसके कार्यत्व में सन्देह ही क्या है, क्योंकि कार्यका एक लक्षण यह भी है कि यत्रभावत्वेसतिविनाशित्वं तत्र कार्यत्वं। सम्पूर्ण वैज्ञानिक भी ऐसा ही मानते हैं। इसलिये सृष्टि के कार्यत्व में किसी का मतभेद नहीं है। जिस विषयमें मतभेद न हो उसपर विशेष लिखकर समय का दुरुपयोग करना है। अब प्रश्न यह है कि इसका कोई कर्त्ता है या नहीं।

कर्त्ता है—

संसार में दो प्रकार के कार्य हैं—एक तो मनुष्यकृत, यथा घट पट मकान घड़ी आदि; दूसरे ईश्वरकृत, यथा पृथ्वी, नदी, पर्वत, चांद, सूर्य, बिजली, मेघ, भूचाल, घास आदि। अब प्रथम प्रकार के कार्यों का कर्ता तो उभय पक्ष मान्य है। तथा दूसरे प्रकारके कार्यों के लिये विवाद है। अर्थात् प्रथम प्रकारके कार्यों को तो आप भी बुद्धिमत कर्तृजन्य मानते हैं और हम भी मानते हैं इसलिये वे सिद्ध हैं तथा दूसरो प्रकार के कार्य बुद्धिमत्कर्तृजन्य हैं या नहीं यह साध्य है। अब हम इस साध्य को सिद्ध करनेके लिये कार्यत्व हेतु देते हैं अर्थात् यत् यत् कार्यं तत् तत् कर्तृजन्यं कार्यत्वाद् घटादिवत्। इस हेतु को आप विरुद्ध नहीं कह सकते, क्योंकि यह विपक्ष में नहीं रहता। इसको आप असिद्ध भी नहीं कह सकते, क्योंकि संसारका कार्यत्व हम सिद्ध कर चुके हैं। और इसको आप व्यभिचारी भी नहीं कह

सकते क्योंकि इसका व्यभिचार कहीं नहीं मिलता। यदि आप घासादि में इसका व्यभिचार दिखलावेंगे तो वह साध्यसम हेत्वाभास होगा क्योंकि घासादि ही तो साध्य हैं। तथा यह न्याय की मर्यादा के सर्वथा विरुद्ध भी होगा, क्योंकि न्यायशास्त्र में दृष्टान्त का लक्षण किया है कि जो सर्व सम्मत हो परंतु आपके दृष्टान्त में तो हमारा ही विरोध है। तथा च घास, बिजली, मेघादि सब पदार्थ पक्ष में हैं, और पक्षैकदेश में विरोध दिखलाने से अनुमान मात्र का विघात होगा। ऐसी अवस्था में किसी भी वस्तु की सिद्धि न हो सकेगी। अतः आप साध्यमें से दृष्टान्त न देकर सिद्ध में से ऐसा कोई दृष्टान्त दें जहां बिना कारण के कार्य होता हो। यदि आप ऐसा कोई दृष्टान्त सिद्ध पदार्थों में से नहीं दे सकते जहां कारण के बिना कार्य होगया हो तो आपने यह कैसे जानलिया कि इन पर्वतादि कार्यों का कोई कर्ता नहीं है। तथाच आप लोग पुद्गल (प्रकृति) को जीव को, एवं आकाश और काल को निष्क्रिय मानते हो। जब आपके सिद्धान्तानुसार सर्व पदार्थ निष्क्रिय हैं तो इन जड़ पदार्थों में क्रिया कहाँ से आई, क्योंकि अभाव से भाव तो आपके यहां भी नहीं माना है। इसके लिये आपको एक पृथक् काल की कल्पना करनी पड़ी परन्तु प्रश्न फिर भी हल न हुआ क्योंकि वह काल जो प्रकृति में क्रिया देता है वह भी जड़ है अतः ज्ञान पूर्वक क्रिया न दे सकेगा परन्तु संसार में तो हम ज्ञान पूर्वक क्रिया देखते हैं बस आपने क्लिष्ट कल्पना तो की परन्तु घट कुटि प्रभात

न्याय से आना आपको फिर भी वहीं पड़ेगा क्योंकि संसार में सूर्य आदि में नियम है तथा पृथ्वी के भी प्रत्येक पदार्थ में हम नियम पूर्वक क्रिया देखते हैं; अतः इस नियमका कोई नियामक होना ही चाहिए। नियम सर्वदा बुद्धिमान् ही बना सकताहै, अतः इन नियमों का भी कोई नियामक बुद्धिमान् है तथा क्रिया बिना कर्ता के नहीं होती इसलिये संसार में क्रिया है उसका कर्ता भी अवश्य कोई बुद्धिमान् है। याद रहे कि आपमें और हमारे में निम्नलिखित विषयों में कुछ भी भेद नहीं; अर्थात् वे उभय पक्ष मान्य हैं—(१) सृष्टि कार्य है (२) इस कार्य के लिए निमित्त कारण की भी आवश्यकता है अतः इसका निमित्त भी आप और हम मानते हैं (३) निमित्त कारण सर्वव्यापक अशरीरी एवं निष्क्रिय है, आपके मान्य काल तथा धर्म अधर्म आदि द्रव्यों में उपरोक्त गुण हैं। अब आपमें और हमारे में मत भेद है तो केवल यह कि हम कहते हैं कि इस सृष्टि का निमित्त कारण चैतन्य सर्वज्ञ है, आप कहते हैं कि जड़ काल है। एक बात और भी स्मरण रहे कि आपके इन जड़ कर्ताओंके पास भी उपकरण अर्थात् औज़ार आदि नहीं हैं, अतः कर्ता के पास इन का होना भी कोई आवश्यक नहीं है, यह भी उभय पक्ष मान्य है। यदि आप यह कहें कि कर्त्ता विकारी ही होता है यह भी असंगत है। आपके तीर्थंकर भगवान् निर्मल होते हुये भी उपदेश देते थे, तथा भ्रमण करते थे। बस उपरोक्त बातें उभय पक्ष मान्य होने से निर्विवाद हैं, अतः इनपर आप और हम शंकायें नहीं

कर सक्ते। अब परीक्षा इस बात की करनी है कि क्या जड़ पदार्थ नियम पूर्वक क्रिया दे सकता है अथवा जड़ पुद्गल अपने आप नियम पूर्वक क्रिया करके सृष्टि बना सकताहै। ऐसा मानने वालों के तीन विकल्प हो सकते हैं — (१) पुद्गलादि पदार्थों में सृष्टि बननेकी अथवा बनाने की अधिक सामर्थ्य है (२) बिगाड़ने की अधिक है (३) दोनों शक्तियें बराबर हैं। प्रथम पक्ष में तो यह दोष है कि उससे सृष्टि में बिगाड़ नहीं होना चाहिये अर्थात् कोई वस्तु नष्ट नहीं होनी चाहिए परन्तु संसार की वस्तुओं को नष्ट होते सब प्रत्यक्ष देखते हैं। यदि दूसरा विकल्प मानें तो सृष्टि बनही नहीं सकती, क्योंकि जिस ख़ज़ानेमें से दो रुपये रोज़ निकाले जावें और एक डाला जावे तो उसमें रुपये किस प्रकार जमा हो सकते हैं। यदि तीसरा पक्ष लें तो भी जगत न बनेगा क्योंकि जिस प्रकार दो समान शक्ति शाली पुरुष एक रस्से को खेंचें तो रस्सा वहीं स्थिर रहेगा, इसलिए आपके जड़वाद से संसार कभी न बन सकेगा। इसलिए इसका कर्ता बुद्धिमान् मानना ही पड़ेगा। यदि आप जीव को इसका कर्ता बतावें तो बिचारा जीव तो करोड़ों वर्षों से सृष्टि के नियमों को जानने का प्रयत्न कर रहा है परन्तु अभी तक कुछ ही पदार्थों के नियम जान सका है, वह भी अल्पतर; इसी से यह सिद्ध है कि अल्पज्ञ तथा एक परमाणु से भी अल्प क्षुद्र जीव इतनी विशाल तथा सुन्दर सर्वगुण सम्पन्न दुनियाँ को कैसे बना सकता है। अतः कार्य कारण के अविनाभाव ज्ञान से बुद्धिमत् कर्ता की सिद्धि

है। तथा आपके यहां भी शास्त्रों में चैतन्य को ही कर्ता माना है, जैसा कि आपके यहाँ तीर्थंकरों के नामों में आया है।

यदि कहो बिना इच्छाके मुक्त जीव कर्ता नहीं है तो आप उनकी सिद्धों की उपासना क्यों करते हैं। तथा आपके ये जड़ पदार्थ परमाणुओं में किस ओर से क्रिया देते हैं—सब ओर से अथवा एक ओर से। यदि किसी एक विशेष दिशा से देता है तब तो यह ज्ञानवान् हो गया, पुनः आपमें और हमारे में वस्तु भेद न रहकर नाम भेद रह गया और यदि सब ओर से देता है तो जगत बन ही नहीं सकता क्योंकि परमाणुओं में क्रिया ही नहीं होसकती। यथा एक लोहेके सब ओर तथा ऊपर नीचे भी चुम्बक रख दो तो उस लोहे में सब ओर से समान शक्ति से क्रिया होने के कारण वह वहीं स्थिर रहेगा; इस लिये आपका यह काल सृष्टि बनाने में किसी भी प्रकार समर्थ नहीं है। यदि आप ईश्वर विषय में भी उपरोक्त प्रश्न करें तो यह आपकी भूलहै क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ और परमाणुके अन्दर भी व्यापक है। अतः वह ज्ञानपूर्वक आवश्यक्तानुसार अन्दर से क्रिया देता है।

कर्म्मफल

दूसरी बात यह है कि संसार में हम किसी को सुखी देखते हैं और किसी को दुःखी, इससे भी सृष्टिकर्ता का अनुमान होता है। क्योंकि कोई भी जीव अपने आप दुःखी नहीं होना चाहता और प्रकृति तथा कर्म जड़ हैं, वे एक चेतन को फल दे नहीं सकते, अतः जिसके नियमाधीन होकर यह जीव

अपने कर्मोंका फल भोग रहाहै वह नियामक कोई बुद्धिमान् है। आपको यह याद रखना चाहिये कि कर्मका फल उसी अवस्था में मिल सकता है जबकि कोई बुद्धिमान न्यायाधीश यह जान ले कि इसने अमुक कर्म किया है और इसको अमुक क़ानून के अनुकूल यह फल मिलना चाहिये; जब तक ऐसा न हो तो किसी भी क़िसम का सुख दुःख सज़ा नहीं कहला सकती। वह अन्याय कहलायगा। तथा सज़ा का अभिप्राय सुधार का है न कि बदले का; यदि बदलेका अभिप्राय होता तबतो किसी चोर को सज़ा न मिलकर उसके घर चोरी करवा देनी चाहिये। बस जब सज़ा का अभिप्राय सुधार है तो जड़ प्रकृति अथवा पराधीन जड़ कर्मों को यह किस प्रकार ज्ञान होसकता है कि अमुक जीवको अमुक प्रकारकी इतनी सज़ा देने से सुधार हो सकता है। बस इससे सिद्ध है कि कर्मफल प्रदाता कोई चैतन्यसत्ता है तथा न कर्म पुरुष को फल नहीं दे सकते उससे उत्पन्न होने के कारण, जिस प्रकार वृक्ष से पुष्प उत्पन्न होकर वृक्षको नहीं काट सकता। एक प्रश्न और भी है कि यह जड़ कर्म स्वाश्रयविघात क्यों करता है, क्या इसका भी कोई प्रयोजन है, यदि नहीं तो बिनाकारण के यह कार्य किस प्रकार होताहै तथा जीव ही इस के दिये फलको क्यों भोगता है, क्या अपनी इच्छा से ऐसा तो नहीं है क्योंकि जीवने तो बुरे कर्म भी सुख की इच्छा से किये थे। अतः यह सिद्ध है कि जीव स्वयं दुःख भोगना नहीं चाहता। और कर्म न तो कर्मों की व्यवस्था को जानता है और न उसमें

फल देने की शक्ति है और न उसका कोई प्रयोजन है अतः यह सिद्ध है कि कर्म फल प्रदाता कोई सर्वशक्ति संपन्न चैतन्यसत्ता है जिसके आधीन यह जीव अपने कर्मों का फल भोगता है। बस कार्य कारण की व्याप्ति से तथा कर्म फल देखने से ईश्वर सृष्टिकर्त्ता सिद्ध है।

ह० सोहनलाल आर्य, मंत्री आर्यसमाज, पानीपत।

जैनसमाज का उत्तरपत्र

[तारीख़ ५-११-३३—समय ११-५५ दोपहर]

इस शास्त्रार्थ का विषय "क्या ईश्वर सृष्टिकर्ता है?" है। इसके सम्बन्ध में आर्यसमाज का कार्य ईश्वर को सृष्टिकर्ता सिद्ध करना है और जैन समाज का इससे विपरीत। यहां सृष्टि और प्रलय से मतलब उस सृष्टि और प्रलय से है जो आर्यसमाजने स्वीकार की है। आर्यसमाज की मान्यता के अनुसार परमाणुओं का चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष तक जुदी जुदी अवस्था में रहना प्रलय है और फिर इनका समुदाय स्वरूप होजाना सृष्टि है। आर्यसमाज की तरफ से प्रलय को सिद्ध करने के लिये केवल एक प्रमाण और वह भी जैनशास्त्रों का उपस्थित किया गया है किन्तु यह ठीक नहीं। जैनशास्त्र इस प्रकार की प्रलय नहीं बतलाते, अतः जैन शास्त्रों के आधार से

आर्यसमाज की प्रलय सिद्ध नहीं हो सकती। अन्य कोई प्रमाण इसके सम्बन्ध में उपस्थित नहीं किया गया। अतः आर्यसमाज के सिद्धान्त के अनुसार प्रलय का होना असिद्ध है।

'जगत' की प्रलय तो क्या ? जैन सिद्धान्त तो उसको समुदाय दृष्टि से अनादि और अनन्त बतलाता है। प्रलय के अभावमें सृष्टि की सिद्धि भी क्या, फिर भी आर्यसमाज ने निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित किये हैं :—

(१) सृष्टि शब्द (२) स्थूल इन्द्रियों का विषय (३) जैन शास्त्रों के वाक्य (४) प्रत्यक्ष प्रमाण।

जैन शास्त्रकार केवल जगत को ही नहीं, किन्तु आकाश में भी प्रति क्षण परिणमन मानते हैं। इस ही के आधार से जैनशास्त्रों में वस्तु का लक्षण उत्पाद व्यय और ध्रौव्य किया है। पुद्गल भी एक द्रव्य है, अतः उसमें भी ये होते रहते हैं। इसका यह मतलब नहीं कि पुद्गल के सम्पूर्ण परमाणु किसी भी समय में प्रथक प्रथक हो निष्क्रिय हो जाते हों जिससे कि इनसे आर्यसमाज की सृष्टि और प्रलय सिद्ध हो सके; यही आज वैज्ञानिक मत है। वैज्ञानिक सिद्धान्तानुसार भी परमाणु कभी भी आर्यसमाज की प्रलय की तरह निष्क्रिय नहीं होता। ज्योंही वह एक स्कन्ध से अलग होता है, त्यों ही उसमें दूसरे परमाणुओं या स्कन्धों से मिलने की क्रिया होती है—देखो टॉमसन का "परमाणुवाद" और मैलर की "इनआरगैनिक कैमिस्ट्री" अर्थात् (रसायन शास्त्र)। अतः

जैनशास्त्रों के आधारसे इस प्रकार की सृष्टि की सिद्धि नहीं हो सकती। सृष्टि शब्दका अर्थ भी ध्रौव्य व्यय युक्त उत्पाद है; अतः ये दोनों साधन असिद्ध हैं।

आर्यसमाज का "स्थूल इन्द्रियों का विषय" यह साधन भी असिद्ध है, क्योंकि यह दो परमाणु समुदाय स्वरूप कार्य में नहीं रहता। भागासिद्ध को भी असिद्ध ही माना जाता है। रही प्रत्यक्ष की बात सो आर्यसमाज का यह कथन प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। सृष्टि को प्रत्यक्ष से वह जानेगा जो परमाणुओं की भिन्न अवस्था के साथ उसके संयोग को भी इन्द्रियों से जान रहा हो। यदि ऐसा होता तो शास्त्रार्थ के करने वाले भी परमाणु रूप में होते, क्योंकि यह सृष्टि और प्रलय एकदेशीय नहीं, किन्तु इस प्रकार का मानना प्रत्यक्ष-विरुद्ध है; अतः प्रत्यक्ष से इस बात को सिद्ध करना भी प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। यही बात "स्थूल इन्द्रियों के विषय" साधन में भी घटित कर लेनी चाहिये अर्थात् प्रत्यक्ष-विरोधका दूषण व हानि आती है। इससे स्पष्ट है कि आर्यसमाज की मानी हुई सृष्टि और प्रलय दोनों असिद्ध हैं।

प्रथम तो इन दोनों बातों के असिद्ध होने से कर्ता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। दूसरे आर्यसमाज ने इसके सम्बन्ध में जो भी प्रमाण उपस्थित किये हैं वे त्रुटिपूर्ण हैं। आर्यसमाज का कार्यत्वहेतु व्यभिचारी है क्योंकि यह ऐसे

स्थान पर भी रहता है जहां कि कर्ता का सर्वथा अभाव है, जैसे यकायक पृथ्वी पर गिरे हुए बोजसे पदा हुआ वृक्ष या जङ्गल की आग से पैदा हुई राख। इसमें दूसरा दूषण विरुद्ध हेत्वाभास का है क्योंकि यह कार्यत्वहेतु घट आदिक में सशरीरी और असर्वज्ञ के ही साथ मिलता है तथा यहाँभी ऐसा होनेसे सशरीरी और असर्वज्ञ को ही सिद्धि कर सकेगा। अतः साध्यसे विपरीत सिद्धि होने से आपका हेतु विरुद्धहेत्वाभास बन जायगा। तीसरा दोष उस अनुमान में साध्यविकल दृष्टान्त का आता है क्योंकि जैसा अशरीरी सर्वज्ञ कर्ता आप सिद्ध करना चाहते हैं वैसा आपके दृष्टान्त से घटित नहीं होता; अतः यह अनुमान मिथ्या है। "क्रिया बिना कर्ता के नहीं होती" आपका यह हेतु भी व्यभिचारी है। क्योंकि पूर्वकथित अनुमान का दोष दिखलाते हुए जिस पेड़ या राख का उल्लेख किया है उसमें क्रिया बिना कर्ता के रहती है।

आर्यसमाज की तीसरी युक्ति ज्ञानपूर्वक क्रिया है, यह बात भी असिद्ध है। जगत में जहां २ क्रिया है वहां वहां ज्ञानवान कर्ता है, यह युक्ति भी सिद्ध नहीं है; जैसे अतिवृष्टि, भूकम्प, उल्कापात आदि। जैनशास्त्रकार पुद्गलको क्रिया रहित नहीं मानते, आर्यसमाज का इस प्रकार बतलाना मिथ्या है— देखो "तत्वार्थसूत्र" अध्याय ५ सूत्र १ से ७ तक। पुद्गल परमाणु एक ओर से क्रिया करते हैं या सब ओर से, यह प्रश्न ही आपका व्यर्थ है। परमाणु अविभागी है तथा उसकी क्रिया में

प्रदेशांस की कल्पना नहीं की जा सकती। परमात्मा की उपासना के सम्बन्ध में जो आपने शंका की है, वह मिथ्या है। जैनदर्शन के अनुकूल आत्मशुद्धि का मुख्य कारण स्वप्रयत्न है। सिद्धोंकी उपासनासे यह मतलब नहीं कि सिद्ध आत्मशुद्धि की प्रेरणा करते हैं किन्तु वह उपासकों के ही प्रयत्न से सिद्ध होती है। मनोविज्ञान का भी यही मन्तव्य है। "जो जैसा आदर्श निश्चित कर लेता है, वह उसी भावरूप होने में सफल होता चला जाता है"—देखो सत्यार्थप्रकाश पेज १८२, एडीशन १८।

कर्मफल

सुख और दुख की व्याप्ति सृष्टिकर्ता-फलदाता के साथ नहीं है, अतः यह साधन आश्रयासिद्ध और व्यधिकरणासिद्ध है, क्योंकि इसका आश्रय असिद्ध है और दूसरी बात यह है कि साधन जीवात्मा में रहता है न कि परमात्मा में; अतः यह व्यधिकरणासिद्ध भी है। सर्वशक्ति सम्पन्न चैतन्य सत्ता कर्मफल प्रदाता है, यह बात ठीक नहीं; क्योंकि प्रथम तो ईश्वर का सर्व शक्ति सम्पन्न होना ही अभी तक असिद्ध है दूसरे ईश्वर कर्मफल दाता नहीं—जगत में पापी और हिंसक प्राणियों की उत्पत्ति होने से। इस अनुमान से भी यह बात खंडित है कि वह कर्म जिसका फल मिलता है उस कर्म से भिन्न है जो फल देता है। अतः स्वाश्रय विघात की बात भी निराधार है। क्या आर्यसमाज बतलाने की कृपा करेगा कि कर्म और फल से

क्या मन्तव्य है अर्थात् इनके लक्षण क्या हैं ? ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि कर्मफल के आधार से भी ईश्वर सृष्टिकर्त्ता सिद्ध नहीं होता।

इन सब बातों से पहिले आर्य्यसमाज को अपने परमात्मा को बुद्धिमान तो प्रमाणित करना चाहिये। वह बुद्धि या ज्ञान जिससे आर्य्यसमाज उसको बुद्धिमान या सर्वज्ञ मानता है उससे एक भिन्न पदार्थ है यही वैशेषिक दर्शन का मन्तव्य है जिसको कि आर्य्यसमाज प्रमाण मानता है। ऐसी हालत में यह कैसे कहा जा सकता है कि यह ज्ञान उसी का है। यदि कहोगे कि वह ज्ञान समवाय से ईश्वर में रहता है अतः उसका है तो समवाय भी तो इन दोनों से भिन्न पदार्थ है। वह समवाय भी ऐसा नियम कैसे कर सकता है कि यह ज्ञान परमात्मा ही में रहे और आकाश में न रहे। अतः परमात्मा बुद्धिमान या सर्वज्ञ भी प्रमाणित नहीं होता, फिर बाक़ी की बातों का तो कहना ही क्या है ? निम्नलिखित प्रमाण भी आर्यसमाज के मन्तव्य का निराकरण करते हैं :—

(१) ईश्वर जगत कर्त्ता नहीं, इसके साथ अन्वयव्यतिरेक न मिलने से (२) ईश्वर जगतकर्ता नहीं, ईश्वर के अशरीरी एवं इच्छा रहित होने से (३) ईश्वर जगत कर्ता नहीं, नित्य सर्व व्यापक होने से (४) ईश्वर जगत कर्ता नहीं आर्यसमाज के माननीय शास्त्रों के प्रतिकूल होने से—देखो शतपथ ब्राह्मण १२, ३, ४, १०, ११; ऋग्वेद १०, १२, ९, ५-७; सांख्य दर्शन

१, ९२; ऋग्वेदादि भूमिका पेज ५(५) पृथ्वी रची हुई नहीं, हमारे द्वारा ग्रहण योग्य प्रमाण न होने से—आकाश की तरह (६) ईश्वर जगत कर्ता नहीं, आधुनिक विज्ञान के प्रतिकूल होने से (७) ईश्वर जगत कर्ता नहीं, कार्य कारण के विरोध होने से—प्रमाण में अमैथुनी पैदाइश (८) ईश्वर जगतकर्ता नहीं, जगत के अनादि होने से।

प्रश्न

(१) प्रलय काल में जीवात्मा कर्म और लिङ्ग शरीर सहित है या रहित (२) प्रलय काल में परमात्मा का सृष्टिकर्तृत्व गुण क्या करता है (३) परमाणुओं के भिन्न २ रहने से मुक्त आत्मा भोग योग्य शरीर कैसे बनाता है (४) परमाणुओं में संयोग वियोग शक्ति स्वतः सिद्ध है या परमात्मा से।

इन सब बातों से प्रमाणित है कि ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं।

ह० मुनिसुव्रत दास जैन

प्रतिनिधि जैन समाज, पानीपत।

---

[२]

आर्यसमाज का पत्र

[तारीख़ ५-११-३३— समय ४ बजे सायंकाल]

श्रीमान् जी ! आपने हमारे प्रथम पत्र के उत्तर में चार पृष्ठ भरने का प्रयत्न किया है परन्तु खेद है कि आपने हमारे लेख पर विचार नहीं किया। शास्त्रार्थ "ईश्वर सृष्टिकर्ता है" इस विषय पर है, चाहे वह किसी की सृष्टि हो, संभव है जैनियों की दुनियाँ निराली हो। जब आपकी वह दुनिया प्रत्यक्ष हो जावेगी तब उस पर विचार किया जावेगा। अब तो शास्त्रार्थ इस वर्त्तमान सृष्टि पर है। यह सृष्टि प्रत्यक्ष में बनती और बिगड़ती है। अतः इस विषय में सन्देह नहीं है। आपने सृष्टि शब्द के भी अपूर्व अर्थ किये हैं। शायद आपके यहाँ नया व्याकरण बनने लगा हो, क्योंकि वर्त्तमान् व्याकरण से तो आपके सिद्धान्तों की पुष्टि नहीं हो सकती। आपने आकाश में परिणमन बतलाकर तो जैन शास्त्रों को स्वयं खंडित कर दिया। आप प्रमाण सहित सिद्ध करें कि आपके यहाँ कहाँ आकाश को परिणामी माना है। श्रीमन् ! जब आपमें और

हमारे में मतभेद ही नहीं है तो उसमें हेत्वाभास दिखलाने का प्रयत्न करना अपने सिद्धान्तों का तिरस्कार करना है; अतः आप अपसिद्धान्तनिग्रह स्थान में हैं । तथा आपने यह लिख कर कि जैन शास्त्रकार पुद्गल को क्रियारहित नहीं मानते हैं अपने पाण्डित्य का परिचय दिया है। भगवन्! ऐसा लिखने से पूर्व किसी योग्य गुरू की सेवा करके जैन ग्रन्थों का रहस्य जान लेते तो क्या ही उत्तम होता। श्रीमान् जी सृष्टिकर्ता में जो आपने अन्वयव्यतिरेकाभाव दोष दिखलाया यह भी अनुचित है, क्योंकि आपके यहाँ भी तो आकाश काल सर्वव्यापक एवं नित्य हैं; पुनः उनमें भी यही दोष आवेगा। अतः यहाँ यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता क्योंकि यह एकदेशी पदार्थ के लिये उठता है। तथा सिद्धों की उपासना के विषय में जो आपने लिखा है उसमें प्रश्न यह है कि उनकी उपासना का कुछ फल है या नहीं। यदि नहीं तब तो करना व्यर्थ है। यदि है तो वह फल किसके कारण से मिलता है। क्या सिद्ध और सिद्धों की उपासना अन्यथा सिद्ध है। आपने आजकल के वैज्ञानिकों का ज़िक्र करके यह सिद्ध कर दिया कि आपको वैज्ञानिकों पर विश्वास हो गया है। यदि ऐसा है तब तो अपने भूगोल तथा खगोल की परीक्षा करवालें। कार्यत्व हेतु को व्यभिचारी बतला कर आपने बिचारे हेत्वाभास पर अन्याय किया है। क्योंकि जहाँ आपने व्यभिचाराभास दिखलाया है वह भी साध्य है, अतः आप उसको प्रमाण रूप से उपस्थित

नहीं कर सकते। तथाच वे सब पक्षैकदेश में हैं। अतः आप वहाँ दोष नहीं दिखा सकते। तथाच आपने कुछ हमारे ग्रन्थों के केवल अध्याय आदि लिखने का कष्ट किया है परन्तु आपने एक भी मन्त्र लिखकर उसके अर्थ नहीं किये। करते भी कैसे जबकि आप स्वयं जानते हैं कि वहाँ ईश्वरकर्ता स्पष्ट शब्दों में लिखा है। प्रलय काल में भी ईश्वर का कार्य उसी प्रकार होता रहता है जिस प्रकार इस समय। केवल क्रिया के फल में भेद है अर्थात् सृष्टि और प्रलय हमारी अपेक्षा से है न कि ईश्वर की। परमाणुओं में संयोग वियोग शक्ति स्वयं सिद्ध है, परन्तु परमात्मा के कारण से प्रकट होती है—यथा आपकी लेखनी में लिखने की शक्ति स्वयं सिद्ध है, परन्तु लिखने के लिये आपकी आवश्यकता है। बाकी सब प्रश्नों का उत्तर हम प्रथम पत्र में लिख चुके हैं, ध्यान से देखने की कृपा करें। अब हम आपके शास्त्रों में काल आदि का कैसा वर्णन है, यह दिखलाते हैं ताकि आपको ज्ञान हो।

जैनियों का काल

हमने पूर्व लिखा था कि जैन शास्त्र काल को सृष्टिकर्ता मानते हैं। इसमें आपने कुछ शंकायें की हैं जिससे प्रकट होता है कि आपने उन ग्रंथों के देखने का कष्ट नहीं किया। अब हम उसको खुलासा करके लिखते हैं। यथा पंचास्तिकाये—

जीवाः पुद्गल कायाः सह सक्रिया भवन्ति न च शेषाः।
पुद्गल करणा जीवाः स्कन्धाः खलु काल करणास्तु ॥ श्लो० ९८॥

इस पर तत्वदीपिका टीका—प्रदेशान्तर प्राप्ति हेतुः परिस्पन्दनरूप पर्यायः क्रिया। तत्र सक्रिया बहिरंग साधनेन सह भूताः जीवाः। सक्रिया बहिरङ्ग साधनेन सह भूताः पुद्गलाः। निष्क्रियमाकाशम्, निष्क्रियो धर्मः, निष्क्रियः कालः। जीवानां सक्रियत्वस्य बहिरंग साधनं कर्म नोकर्मोपचय रूपाः पुद्गलाः तद् भावाभिनः क्रियत्वं सिद्धानां पुद्गलानां सक्रियत्वस्य बहिरंग साधनं परिणाम निर्वर्तकः काल इति ते काल करणाः। अर्थात् जीव और पुद्गल (प्रकृति) ये दो पदार्थ दूसरे पदार्थ का निमित्त पाकर क्रिया वाले होते हैं। अर्थात् जीव तो पुद्गल के निमित्त से सक्रिय होता है, और पुद्गल (प्रकृति) काल के निमित्त से क्रियावाला होता है। बाकी सब पदार्थ अर्थात् आकाश, काल, धर्म और अधर्म निष्क्रिय हैं। तथाच तत्त्वार्थ सार अधिकार ३ में भी—

स कालो यन्निमित्ताः स्यु परिणामादि वृत्तयः।
वर्तना लक्षणं तस्य कथयन्ति विपश्चिताः॥ श्लो० ४०॥

अर्थात् जिसके निमित्त से वस्तुओं में परिणाम क्रिया इत्यादि कार्य हो सकते हैं तथा छोटे बड़े का व्यवहार होता है उसे काल कहते हैं। निष्क्रिय काल वस्तुओं में किस प्रकार क्रिया दे सकता है क्योंकि सक्रिय पदार्थ ही दूसरे को क्रिया देता है। इसका उत्तर देते हैं—

न चास्य हेतु कर्तृत्वं निष्क्रियस्य विरुध्यते।
यतो निमित्तमात्रेऽपि हेतु कर्तृत्वमिष्यते॥ श्लो० ४३॥

अर्थात् निमित्त कारण के लिये यह प्रश्न नहीं उठता । निमित्त की अपेक्षा से यह कर्त्ता कहाता है अर्थात् क्रिया और परिणाम का यह सहायक है, दीपवत् ।

तथा हरिवंशपुराण सर्ग ७ श्लो० ५-६ में भी लिखा है कि—

सर्वेषामेव भावानां परिणामादि वृत्तयः ।
स्वान्तर्बहिर्निमित्तेभ्यः प्रवर्तन्ते समंततः ॥ ५ ॥

अर्थात् जितने भी कार्य हैं उनके दो कारण होते हैं—एक अन्तरङ्ग, दूसरा बहिरंग । सो पदार्थों में जो परिणाम है उसका अन्तरङ्ग कारण तो उनकी शक्ति है और बहिरंग कारण काल है ।

अब आप बतलावें कि जैन शास्त्र काल को सृष्टिकर्ता मानते हैं या नहीं । जब कि काल के निमित्त बिना पुद्गल में क्रिया नहीं हो सकती और जब तक पुद्गल में क्रिया न हो जीव भी निष्क्रिय रहेगा, फिर संसार कैसे बन सकता है ?

जैनधर्म और प्रलय

मैं ने लिखा था कि जहाँ जैनधर्म सृष्टि को उत्पन्न हुआ मानता है वहाँ उसको प्रलय भी मानता है जिसका वर्णन प्रथम पत्र में किया जा चुका है । परन्तु आपने उसपर विचार नहीं किया । अब हम उसको विवरण सहित पुनः लिखते हैं । यथा—

एवं गच्छति कालेऽस्मिन्नेतस्य परमावधौ ।
निः शेषं शेषमेतावु शरीरमिव संक्षयम् ॥

अति रुक्षा धरा तत्र भाविनी स्फुटिता स्फुटम् ।
प्रलयः प्राणिनामेवं प्रायेणोपअभिष्यते ॥

—उत्तर पुराण श्लोक ४४६ से ४५२ तक

अर्थात् छठे काल के अन्त में प्राणियों की प्रलय इस प्रकार होगी—सात दिन तक रुक्ष और तीक्ष्ण हवा चलेगी, तथा सात दिन तक विष वर्षेगा, सात दिन अग्नि वर्षेगी आदि आदि। इस प्रकार ४९ दिन में संसार के सम्पूर्ण प्राणि नष्ट हो जावेंगे और यह चित्रा पृथिवी भी नष्ट हो जावेगी।

त्रिलोक सार में लिखा है कि—

तेभ्यः शेष जना नश्यन्ति विषाग्नि वर्ष दग्ध मही ।
एक योजन मात्र मधः चूर्णी क्रियते ही कालवशात् ॥ ८६७॥

अर्थात् उस समय एक योजन नीचे तक पृथ्वी नष्ट हो जावेगी। यहां एक योजन २००० कोस का है जिसका अर्थ हुआ कि यह पृथ्वी ४००० मील तक नीचे को नष्ट हो जावेगी। पृथ्वी का इतना ही व्यासार्ध है। बस इससे स्पष्ट है कि यह संपूर्ण पृथ्वी नष्ट हो जावेगी। बस जो वस्तु उत्पन्न होती है वह अवश्य एक समय उत्पन्न भी हुई होगी। इस अवस्था में इसके कार्यत्व का विरोध किसी भी विद्वान् को शोभा नहीं देता। क्योंकि ऐसा करना पण्डितों में हंसी का पात्र बनना है।

जैनधर्म सृष्टिकर्ता

जब जैन शास्त्रों ने सृष्टि की उत्पत्ति मानी है और इसका प्रलय भी माना तो यह कैसे हो सकता था कि वे इसको जड़

प्रकृति के आसरे छोड़ देते। अतः जैन शास्त्रों ने इसका कर्ता भी ईश्वर को माना है जिसके कुछ तो प्रमाण हम प्रथम पत्र में दे चुके हैं तथा कुछ और भी देते हैं। आदि पुराण में जहां ईश्वर के नाम लिखे हैं वहां पर निम्न लिखित नाम भी लिखे हैं :—विश्वयोनि, कारणं, कर्ता, भवान्तकः, हिरण्यगर्भः, विश्वभृद्, विश्वसृट् (देखो जिणवाणी संग्रह पृ० ५० से ५३ तक)। ये नाम स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि सृष्टि का कर्ता कोई ईश्वर है। इसी प्रकार उत्तर पुराण पर्व ४८ श्लो० ७८ में सगर के पुत्रों को ईश्वर ने सर्व श्रेष्ठ बनाया लिखा है। तथा गणधर चरित्र में श्रेणिक का वर्णन करते हुये लिखा है कि विधाता ने सम्पूर्ण वस्तुओं के अच्छे २ गुण लेकर उस में रख दिये थे। इत्यादि अनेक वर्णन जैन शास्त्रों में आते हैं जिनसे ईश्वर सृष्टिकर्ता सिद्ध होता है। परन्तु आपने तो सत्य को स्वीकार न करने की प्रतिज्ञा की है, इसलिये आप लिखते ही रहेंगे।

प्रकृतिवादियों से प्रश्न

(१) जो २ कार्य किसी चैतन्यसत्ता द्वारा बनते हैं उनका क्या लक्षण है? और जो स्वयं बनते हैं उनका क्या लक्षण है? (२) मनुष्य का अथवा पशु पक्षियोंका शरीर किसने बनाया? क्या उनके माता पिताओं ने? यदि ऐसा है तो माता पिता को उनके शरीरों की बनावट का ज्ञान क्यों नहीं? (३) सृष्टिका लक्षण और अर्थ क्या है (४) जब आप लोग भरत और ऐरावत खण्ड की प्रलय मानते हैं, तो अन्य देश के प्रलय का

किस प्रमाण से निषेध करते हैं? (५) आप लोग पुद्गल आदि में उत्पाद और व्यय मानते हैं, तो ये बिना क्रिया के किस प्रकार हो जाते हैं? यदि क्रिया से होते हैं तो उस क्रिया का दाता कौन है—जीव है अथवा अन्य? (६) छः महीने आठ दिन में ६०८ जीव मुक्त होंगे, यह नियम किसने बनाया—जीवने या पुद्गल ने? (७) स्वर्ग, नरक आदि की व्यवस्था का नियामक कौन है? (८) कर्म का लक्षण क्या है और फल का लक्षण क्या है तथा कर्मफल का उद्देश्य क्या है—बदला लेना, सुधार करना अथवा दुःख सुख देना ही? (९) सृष्टि में नियम है, इसका नियामक कौन है। जड़ है अथवा चैतन्य? इसके नियम—१. पितृ नियम, अर्थात् एक वस्तु से उसी के समान अन्य वस्तु उत्पन्न होती है। २. परिवर्तन का नियम, अर्थात् नियम पूर्वक परिवर्तन होता है—अनियमित नहीं। ३. अवस्था का नियम, अर्थात् युवा अवस्था के पश्चात् ही वृद्ध अवस्था आती है। ४. चुनाव का नियम, अर्थात् सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथ्वी, मनुष्य के सब अवयव यथायोग्य और यथा स्थान चुने गये हैं। ५. गतिका नियम, अर्थात् संसार की घड़ियों में अन्तर पड़ सकता है परन्तु पृथ्वी, चान्द, सूर्य और तारों की गति में कभी नहीं पड़ सकता, इत्यादि। जहाँ दृष्टि डालो वहीं नियम विद्यमान है। तो क्या ये नियम प्रकृति ने बनाये हैं। उस जड़ पुद्गल को यह ज्ञान कैसे हुआ कि चांद को इतने ऊपर बनाना चाहिये और उसको इतनी गति रखनी

चाहिये जब ही सृष्टि स्थित रह सकती है। (१०) जब मनुष्य का बच्चा माँ के गर्भ में पड़ता है तो उसकी आकृति प्रथम मास में मनुष्य जैसी नहीं होती। गाय, खरगोश, सूअर और मनुष्य के बच्चे की आकृति एक समान होती है। पुनः इनमें नियमपूर्वक परिवर्तन कौन करता है। क्या आपके इस जड़ पुद्गल को यह ज्ञान है कि इसको मनुष्य बनाना है और इसको खरगोश। अथवा जीव इस परिवर्तन को कर्ता है। यदि जीव कर्ता है तब तो सब मनुष्य ही बनते क्योंकि कौन जीव नीचा बनना चाहेगा। फिर क्या माता पिता इस परिवर्तन को करते हैं? इन बिचारे गरीब माता पिताओं को तो इसका ज्ञान भी नहीं है कि प्रथम महीने में गर्भ की क्या स्थिति होती है। अतः आपके पास इन प्रश्नों का क्या उत्तर है?

ह० सोहनलाल आर्य, मन्त्री आर्यसमाज, पानीपत।

जैनसमाज का उत्तरपत्र

[तारीख़ ५-११-३३—समय ८ बजे रात्रि]

हमने अपने उत्तर पत्र में आपके पूर्व पक्ष के खंडन के साथ दो बातें और लिखी थीं—एक "ईश्वर जगत्कर्ता नहीं" इसके समर्थन में ८ अनुमान और दूसरी विषय की स्पष्टतया के लिये ४ प्रश्न। आपने हमारे आठ अनुमानों में से केवल एक

के सम्बन्ध में अपना अभिमत लिखा है और दूसरों के सम्बन्ध में केवल इतना ही लिखा है कि उसके समर्थन में लिखे गये प्रमाणों के हमने अर्थ नहीं लिखे; इस प्रकार आपने हमारे ६ अनुमान छुये तक नहीं। अन्वयव्यतिरेक एक देशीय कार्य कारण के सम्बन्ध में ही होता है, यह आपकी भ्रान्ति है। यह सर्वव्यापक कारण कार्य के सम्बन्ध में उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार कि अव्यापक में। अन्वय व्यतिरेक एक देशीय में होता है। आपके इस लिखने से यह ज़ाहिर है कि आप ईश्वर रूप कारण के साथ उसके कार्य का अन्वय व्यतिरेक असिद्ध मानते हैं। वस्तु का परिणमन दो प्रकार का होता है— एक पर्याय से पर्यायान्तर रूप अर्थात् अपरिस्पन्दात्मक, दूसरा देश से देशान्तर रूप अर्थात् परिस्पन्दात्मक। आकाश में अपरिस्पन्दात्मक परिणमन है मगर उस में परिस्पन्दात्मक परिणमन नहीं है। इसलिये आकाश निष्क्रिय होकर भी परिणमन शील है। अतः क्षेत्र भेद से आकाश में अन्वयव्यतिरेक बन जाता है। इससे ज़ाहिर है कि ईश्वर में अन्वयव्यतिरेक न बनने से वह जगत का कर्ता नहीं है। जिन प्रमाणों का उल्लेख हमने दिया है उनसे ईश्वर का निमित्त कारण होना बाधित है। अतः यदि आप उन शास्त्रों को प्रमाण मानते हैं तो आप ईश्वर को कर्ता नहीं मान सकते। इस से प्रकट है कि हमारे आठों अनुमान ईश्वर के कर्तृत्व का खण्डन करते हैं। अगर ऐसा न होता तो आपने इनके सम्बन्ध में मौन न साधन किया होता।

प्रश्नों में भी आपने यही हाल किया है और चार में से केवल दो का उत्तर दिया है, वह भी युक्तियुक्त नहीं है; बाकी दो के विषय में लिख दिया है कि हम पूर्व पत्र में ही उत्तर दे चुके हैं। इससे तो आप अपने को भविष्य का ज्ञाता भी प्रमाणित करते हैं। कृपया बतलायें कि हमारे इन प्रश्नों का उत्तर आपके पूर्व पत्र के किन शब्दों से होता है—(१) प्रलयकाल में जीवात्मा कर्म लिंग सहित होती है या रहित? (२) प्रलयकाल में परमाणुओं के भिन्न २ अवस्था में रहने से मुक्त आत्मा भोग योग्य शरीर कैसे बनाता है? इसी प्रकार कर्म फल के प्रकरण में आपसे पूछा था कि कर्म और फल का आप क्या लक्षण मानते हैं, किन्तु इस के सम्बन्ध में भी उत्तर न देकर आपने यह प्रश्न हम से ही कर डाला है। तो क्या आपको इसका जवाब नहीं आता। यदि ऐसा है तो पहले लिख दीजिये कि हम इन का लक्षण नहीं जानते। और न इनका लक्षण हमारे शास्त्रों में है। फिर हम आप को इनके लक्षण युक्तिपूर्वक समझा देंगे। यहां हम आपको यह भी याद दिलादेना चाहते हैं कि हमने जो आपके परमात्माकी सर्वज्ञता पर एवं बुद्धिमत्ता पर जो आपत्ति उपस्थित की थी उस के विषय में भी आप मौनी ही हैं। यह तो हुआ हमारी दो बातों के सम्बन्ध में। अब रह जाता है आपका पूर्व पक्ष। सृष्टि का अर्थ हमने तो वही लिया था जिस को स्वामी दयानन्द जी ने स्वीकार किया है—देखो मन्तव्यामन्तव्य प्रकरण। यही बात प्रलय के सम्बन्ध में है। किन्तु

ऐसा मालूम होता है कि आपने इन के समर्थन को असम्भव जान कर इन को छोड़ दिया है। और वर्तमान सृष्टि का अवलम्बन ले लिया है। यहां आप सिद्धान्त हानि निग्रह स्थान के पात्र हैं। यदि आप यह जान रहे थे कि आप आर्यसमाज की मान्य सृष्टि और प्रलय को भी सिद्ध न कर सकेंगे और आपको विषयान्तर जाकर प्रतिज्ञान्तर निग्रह स्थान का पात्र बनना ही पड़ेगा तो आप को प्रलय के विचित्र रूप पर आने की क्या आवश्यकता थी? यह शास्त्रार्थ आर्यसमाज के मान्य सिद्धान्त पर है। अतः आप सृष्टि और प्रलय के सम्बन्ध में दूसरा अर्थ नहीं ले सक्ते हैं। इनको आप सिद्ध नहीं कर सके, यह आप की लेखनी से स्पष्ट है। आपने जो हमको आपके "स्थूल इन्द्रिय के विषय होने से" आदि हेतुओं का निराकरण करने पर अपसिद्धान्त निग्रह स्थान दिया है इस से आप ही निग्रह स्थानों के पात्र बन गये। यदि इन बातों में आप का और हमारा मत भेद नहीं था तो आपने इनको लिखाही क्यों? अतः आप अधिक लिखने से अधिक निग्रहस्थान के पात्र हैं। यदि अन्तर था तो हमने ठीक ही किया। और जो आपने बे समझे निग्रह स्थान लिखा है इसलिये आप निरनुयोज्यानुयोग निग्रह स्थान के पात्र हैं। कार्यत्वहेतु में साध्य विकल दृष्टान्त, विरुद्ध और व्यभिचारी तीन दोष दिये थे। इन में से दो के सम्बन्ध में आप निरुत्तर हैं। यों भी आप का हेतु हेत्वाभास है। फिर भी व्यभिचारी दोष ज्यों का त्यों है। आपका लिखना

कि वह पेड़ और राख साध्यान्तर भूत है यानी वहाँ भी आप को कर्ता सिद्ध करना है, आपके सिद्धान्त के प्रतिकूल है। अतः ऐसा करने से आप अपसिद्धान्त निग्रह स्थान के पात्र हैं। स्वामी दयानन्दजी ने स्वयं सत्यार्थ-प्रकाश में लिखा है कि कहीं २ जड़ के निमित्त से जड़ भी बन और बिगड़ जाता है, जैसे परमेश्वर के रचित बीज पृथिवी में गिरने और जलपाने से वृक्षाकार हो जाते हैं और अग्नि आदि के संयोग से बिगड़ भी जाते हैं (सत्यार्थ-प्रकाश पेज २१२ एडीशन १८)। इससे स्पष्ट है कि आपका साधन निश्चित व्यभिचारी है। इस के अलावा भी आपका कार्य का लक्षण "भावेसति विनाशित्वं" आपके ईश्वर ज्ञान में भी है, क्योंकि वह भी प्रति समय परिणमनशील है किन्तु नाश को प्राप्त नहीं होता। अतः यह कार्य हो गया किन्तु इसका कर्ता आपने कोई माना नहीं है, इसलिये ईश्वर ज्ञान से भी आपका हेतु व्यभिचारी है। इससे प्रकट है कि कार्य के साथ कर्ता की व्याप्ति नहीं। आज कल जो कार्य जीवों के द्वारा होते हैं वे वर्त्तमान सृष्टि से भिन्न हैं या अभिन्न? यदि भिन्न तो संपूर्ण सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर सिद्ध नहीं होता और यदि अभिन्न तो भी ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टि का कर्ता सिद्ध नहीं होता। सृष्टि के अतिरिक्त अन्य कार्यों में ईश्वर सापेक्ष कारण है या निरपेक्ष? यदि निरपेक्ष तब तो कार्यों में क्रम नहीं रहना चाहिये और यह प्रत्यक्ष बाधित भी है क्योंकि बिना सहायक कारणों के कार्य नहीं होता; जैसे बिना माता पिता

के पुत्र की उत्पत्ती नहीं होती, अगर ऐसे ही होना होता तो वंध्या के भी पुत्र हो जाता। यदि सापेक्ष है तो वे पदार्थ जिन की ईश्वर अपेक्षा करता है वे ईश्वरजन्य हैं या अजन्य। यदि ईश्वरजन्य हैं तो वहाँ भी इसी प्रकार सापेक्ष और निरपेक्ष का प्रश्न उपस्थित होता है और इस प्रकार अनवस्था दूषण आता है। यदि वे पदार्थ अजन्य हैं तो वे नित्य हैं या अनित्य? यदि नित्य हैं तो वे सर्वदा रहेंगे ही अतः फिर भी क्रम नहीं बनता और यदि जन्य हैं तो इन्हीं से कार्यत्व हेतु व्यभिचारी है, यह अभ्युपगम सिद्धान्त का वक्तव्य है। परमात्मा आपके सिद्धान्तानुसार एक रूप है तथा परमाणुओं में भी संयोग और वियोग की दोनों शक्तियाँ आपने सर्वदा स्वयं सिद्ध मानी हैं, फिर भी किसी समय संयोग हो और किसी समय वियोग हो। इसमें क्या नियामक है। ऐसा हो क्यों कि प्रलयके समय में परमाणुओं की वियोग की शक्ति ही प्रयोग में आये और सृष्टि के समय संयोग की ही ? नियम क्या है अर्थात् इस का क्या लक्षण है, यह ईश्वर में रहता है या प्रकृतिमें अथवा इन दोनों से भिन्न किसी तीसरे पदार्थ में ? यदि ईश्वर में है तो इसका गमन प्रकृति में नहीं हो सकता क्योंकि एक का गुण दूसरे में नहीं जा सकता। दूसरी बात यह है कि परमात्मा भी नियम आधीन होने से पराधीन ठहरेगा। यदि यह प्रकृति में है तो ईश्वर की आवश्यक्ता ही क्या; इससे तो जगत के कर्तावाद का खण्डन होता है। यदि अन्य पदार्थ में है तो उक्त

दोनों दोष आते हैं। इसके अतिरिक्त उस नियम का सम्बन्ध इन दोनों से फिर क्यों रहेगा ? इस से स्पष्ट है कि संयोग वियोग की शक्ति और उसकी नियामक शक्ति का ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिसमें संयोग वियोग की कोई शक्ति विद्यमान है उन्हीं में उसकी नियामक शक्ति है। आपने जो नियामक संबंधी दृष्टान्त दिये हैं उन सबका इससे निराकरण होता है।

जैन सिद्धान्त काल को कर्ता नहीं मानता किन्तु स्वयं परिणमन की शक्ति रखने वाले पदार्थों के परिणमनमें उदासीन कारण मानता है जैसे कुम्हार के चाक के चलने में उसकी कील। इसमें अर्थात् जैनियों के काल वाद में और आप के कर्ता वाद में बड़ा भारी अन्तर है; जो कील और कुम्हार के सहायकता में अन्तर है वही इनमें अन्तर है (देखो द्रव्य संग्रह गाथा २१)। अतः आर्यसमाज की काल के सम्बन्ध की आपत्ति मिथ्या है। जिस प्रलय का जैन शास्त्रों के आधार से वर्णन किया गया है वह सम्पूर्ण जगत की नहीं, किन्तु एक क्षेत्र विशेष की अवस्था का पलटन है; वहाँ सम्पूर्ण पृथ्वी आदि परमाणु रूप नहीं होते। अतः इस प्रलय से आर्यसमाज की प्रलय सिद्ध नहीं होती। शेष जो भी इसके सम्बन्ध में योजनों का हिसाब लगाया गया है, वह सब जैन शास्त्रों से अनभिज्ञता का फल है। क्या आर्यसमाज में बल है कि वह एक भी प्रमाण जैन शास्त्रों का उपस्थित कर सके जहाँ सम्पूर्ण लोक तो क्या एक पृथ्वी की भी आर्यसमाज जैसी प्रलय का वर्णन हो। अतः

प्रलय की आपत्ति भी मिथ्या है। प्रजानां पालने यत्नमकरोत् इति विश्व स्रष्ट अर्थात् भगवान आदिनाथ ने प्रजा पालन में प्रयत्न किया था अतः वह विश्वस्रष्ट् कहलाये (आदिपुराण पर्व १६)। ऐसे ही आशय को लेकर भगवान ऋषभ देव के लिये अन्य संज्ञायें प्रयुक्त हुई हैं। इसी प्रकार का वर्णन बृहद् आरण्यक उपनिषद् १-४-६ में है। सगर के पुत्रों के सम्बन्ध में जो लिखा है वह उत्प्रेक्षा अलंकार की दृष्टि से लिखा है। वहाँ "मानो" उत्प्रेक्षा का स्पष्ट चिन्ह है। अतः आप छल प्रयोग से निग्रह स्थान के पात्र हैं। अतः संज्ञाओं से भी ईश्वर कर्ता सिद्ध नहीं होता। शेष प्रश्न आपके साध्यकोटि में हैं। साध्य के सम्बन्ध में प्रतिवादी से प्रश्न करना कौनसा न्याय है। यदि आप ईश्वर कर्ता सिद्ध नहीं कर सकते तो आप साफ़ लिखदें। पृष्ठ काले करने से क्या लाभ? इन सब बातों से स्पष्ट है कि आर्य-समाज अपने पक्ष का समर्थन नहीं कर सका और जैन समाज ने ईश्वर के कर्तावाद का खंडन अनुमानादि प्रमाणों से ही नहीं किन्तु आर्यसमाज के माननीय ग्रंथों से भी कर दिया है। अतः स्पष्ट है कि ईश्वर जगतकर्ता नहीं।

ह० मुनिसुव्रत दास जैन
प्रतिनिधि जैन समाज पानीपत।

---

[३]

आर्यसमाज का पत्र

[तारीख ६-११-३३—समय ८ बजे प्रातः]

श्रीमन् ! आपके दो पत्र प्राप्त हुये। परन्तु दुःख है कि आप असली विषय से कोसों दूर भागना चाहते हैं। श्रीमान् जी, जिस विषय में मत भेद न हो उस विषय में प्रश्न करना यह सिद्ध करता है कि आपका जैन सिद्धान्तों पर से विश्वास उठ गया है। यदि ऐसा है तब तो आप हमें स्पष्ट लिखदें, पुनः आपके शास्त्रों के प्रमाण नहीं दिये जावेंगे। अन्यथा जब मैंने प्रथम पत्र में ही पंचास्तिकाय के तथा तत्वार्थ सार के अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया था कि यह सृष्टि पैदा हुई है; यथा "यैस्त्रैलोक्यं निष्पन्नम्" अर्थात् इन परमाणुओं से तीनों लोक उत्पन्न हुये हैं, तो पुनः कार्यत्व में दोष दिखला कर आपने अपने आचार्यों का अच्छा मान किया ! न तो आपमें उन प्रमाणों के अर्थ बदलने की शक्ति है, और न ग़लत कहने का साहस ! पुनः आपने इन ग्रन्थों की सूची किस विश्वास पर दी थी ? बस, आपने जितने भी हेत्वाभास और निग्रह स्थानों का

दुरुपयोग किया है, इसका उत्तरदायित्व तो आपके परम मान्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी पर है न कि हम पर। हाँ, यदि आप उनको नहीं मानते तो आप लिखदें हम युक्तियों से आप के उत्तर देंगे। जब यह संसार बना हुआ है, तो इसके नाश में किसको सन्देह हो सकता है। अतः मैं ने शास्त्रों से सृष्टि की प्रलय सिद्ध करदी। इस विषय में भी मैं ने जितने प्रमाण दिये थे उनको आप शीतकाल में चाय समझ कर पी गये। अतः श्रीमान् जी जैन समाज का और आर्यसमाज का सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय में मतभेद नहीं है, भेद केवल कर्तावाद पर है। क्यों कि जैन शास्त्र कहते हैं कर्ता काल है और वेद कहते हैं कर्ता ईश्वर है। इस विषय को पुष्ट करने के लिये मैंने जैन शास्त्रों के अनेक प्रमाण दिये थे तथा उनका भाषार्थ तथा संस्कृतार्थ भी जैनाचार्य कृत ही लिखा था परन्तु आपने आठ पृष्ठों में उन का जिक्र तक करने की भी कृपा न की। यह है सत्य की विजय! विद्वद्वर्य! जब आप भी कालको निष्क्रिय, अशरीरी, इच्छा रहित तथा व्यापक और नित्य मानते हैं तो पुनः ईश्वर के इन्हीं गुणों पर शंका करते हुए आपके मनमें कुछ तो विचार उत्पन्न होना चाहिये था। याद रहे, शास्त्रार्थ अब केवल इस बात पर है कि सृष्टि का कर्ता काल है अथवा ईश्वर। क्योंकि आपने अपने जड़ काल के कर्तापन में कोई हेतु नहीं दिया; बस, उसका कर्तापन स्वयं असिद्ध हो गया। ऐसा होने पर हमारी दृढ़ युक्तियों से जिनका उत्तर जड़वाद कदापि नहीं

दे सकता, ईश्वर सिद्ध हो गया । अतः उन प्रकरण विरुद्ध प्रश्नों का उत्तरदायित्व आपके उन आचार्यों पर रह गया जिनके प्रमाण मैं दे चुका हूं। सृष्टि शब्द के मेरे किये अर्थ को भी आपने स्वीकार कर लिया, फिर भी कार्यत्व में विरोध ही दृष्टिगत होता रहा ! मैं ने जो कार्य का लक्षण स्थूल इन्द्रियों का विषय होना किया था उसको भी आपने असिद्ध इस लिये बतला दिया कि वह परमाणु समुदाय स्वरूप कार्य में नहीं रहता ! धन्य है उस प्रभु की महिमा को जो स्वयं आपसे ही उपरोक्त शब्द लिखवा दिये ! श्रीमान् जी यह संसार कार्य है या नहीं, यही तो साध्य था ! इसी को आपने परमाणु समुदाय स्वरूप में भी स्वीकार कर लिया । तो पुनः यह हेतु असिद्ध कैसे हो गया ? प्रतिज्ञा हानि का प्रत्यक्ष उदाहरण इसी को कहते हैं । अब यदि आप इस कार्य को अतीन्द्रिय बतलाते हैं तो यह भी अपसिद्धान्त निग्रह स्थान है, क्योंकि मोक्षशास्त्र में ही इस कार्य को चाक्षुष बतलाया है। पुद्गल को आपने प्रथम क्रिया रहित नहीं माना था, जब मैं ने प्रमाण दिये तो आपने स्वीकार कर लिया। अशरीरी कर्ता के विषय में आपके ग्रन्थों के प्रमाण दे चुका हूँ । तथा जिस प्रकार जीव अशरीरी होता हुआ शरीर में क्रिया देता है इसी प्रकार ईश्वर भी देता है। तथा इस पत्र में तो आपने सिद्धों को भी कर्ता मान लिया क्योंकि इस विषय में आपने अबके मौन धारण करके स्वीकृति दी है। रह गया हमारे ग्रन्थों का

प्रश्न, सो तो श्रीमान् जी यदि जैन समाज में कुछ भी सत्य का अंश बाकी है तो उसका कर्तव्य है कि वह मेरी तरह अर्थात् जिस प्रकार मैं ने जैन ग्रन्थों के श्लोक लिखकर उनके अर्थ किये हैं उसी तरह शब्दार्थ करके दिखलावें, अन्यथा इस प्रकार प्रमाणों को मिथ्या रूप में लिखने के लिये प्रायश्चित करना चाहिये। अन्यथा क्या आप मुझे भी आज्ञा देते हैं कि मैं भी इसी प्रकार के मिथ्या प्रमाण लिखूं। श्रीमान् जी एक सभ्य समाज को इस प्रकार मिथ्या लिखने में कुछ लज्जा आनी चाहिये थी, परन्तु खेद है आपने पुनरपि उसी घृणित मार्ग का आश्रय लिया है। बस अब आपसे नम्र निवेदन है कि आगे को जो प्रमाण दें उस मन्त्र अथवा श्लोक की नकल करके उसके अर्थ लिखने की कृपा करें ताकि ज्ञात हो सके कि आपको कौनसे शब्द से भ्रान्ति हो गई है। आपके संकेतानुसार सर्व प्रमाणों को ध्यान से देखा, परन्तु उनमें आपके आशय का एक भी शब्द नहीं है। इस वास्ते आगे को सावधानी से लिखें। अन्य जो आपने प्रश्न किये हैं उनका उत्तर तो प्रथम पत्र में इसलिये आ गया कि इनमें मतभेद नहीं है। आप काल को कर्ता मानते हो, हम ईश्वर को। तथा इन प्रश्नों का विषय से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। हां यदि आप जानना चाहते हैं तो शिष्य भाव से प्रश्न करें, उत्तर दिया जावेगा। अन्वयव्यतिरेक का अभाव ईश्वर में कैसे होसकता, जब कि आप के काल, आकाश आदि में नहीं है। प्रलय अवस्था में जिस

प्रकार आपके यहां आत्मा रहती है उसी प्रकार समझ लो। सृष्टि और प्रलय का मैं ने वही अर्थ लिया है जो समाज का सिद्धान्त है। आपने उसका विरोध कहां दिखलाया। कौन से शब्दों में आपको विरोध की भ्रान्ति हो गई, यह आपही जानें। श्रीमान् जी, ईश्वर का ज्ञान तो सर्वदा, सर्वथा एक रूप रहता है, आपको किसने बहका दिया कि ईश्वर का ज्ञान भी विनाशी है। क्या आप आज यह प्रतिज्ञा करके बैठे हैं कि इसी प्रकार की बेतुकी बातें लिखेंगे? आगे आपने काल को उदासीन कारण मान लिया है, जब आपने स्वयं उसको कारण मान लिया तो पुनः कर्ता नहीं मानने का क्या अर्थ है? क्या कारण कार्य का कर्ता नहीं होता? बस जादू वह जो सर पर चढ़ कर बोले। हमारे उस सर्व शक्तिमान और सर्वज्ञ की लीला देखें कि स्वयं आप ही सब बातों को अपनी ही कलम से स्वीकार कर रहे हो। बस सचाई छिप नहीं सकती बनावट के उसूलों से।

पुद्गल और परमाणु

राजवार्तिक अ० ५ सूत्र १ पर—"परमाणुषु तदभावात् पुद्गलत्वाभाव इति चेन्न गुणापेक्षया तत् सिद्धेः ॥२५॥ स्यान्मतं अणूनां निरवयवत्वात् पूरण गलन क्रियाभावात् पुद्गलव्यपदेशाभाव प्रसङ्ग इति? तन्न किं कारणं? गुणापेक्षया तत् सिद्धेः। रूपरसगंधस्पर्शयुक्ताहि परमाणवः एक गुणरूपादिपरिणताः

द्वित्रिचतुः संख्येयासंख्येयानंतगुणत्वेन वर्धते। तथैव हानिमपि उपयांतीति गुणापेक्षया पूरणगलन क्रियोपपत्तेः परमाणुष्वपि पुद्गलत्वमविरुद्धं। अथवा गुण उपचारात् कल्पनं पूरण गलनयोः भाविस्वात् शक्त्यपेक्षया परमाणुषु पुद्गलत्वोपचारः॥" अर्थात् परमाणुओं में पूरण और गलन न होने से पुद्गलत्व का अभाव है, यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं। गुण की अपेक्षा से उसकी सिद्धि होने से अर्थात् रूप रस गंध स्पर्शयुक्त परमाणु एक गुण रूपादि से परिणत हुए न हुए २-३-४ संख्येय और असंख्येय अनन्तगुणत्व से बढ़ते हैं, एवं हानि को भी प्राप्त होते हैं—गुणापेक्षा से पूरण गलन क्रिया की उत्पत्ति होने से परमाणुओं में भी पुद्गलत्व अविरुद्ध है। अथवा गुण उपचार से कल्पना पूरण गलन के भूत भविष्य की शक्ति की अपेक्षा से परमाणुओं में पुद्गलत्व औपचारिक है। इस प्रमाण से आप यह देखें कि आपको अपने शास्त्रों का कितना ज्ञान है। आपने अपने परमाणु के दर्शन कर लिये। अब आकाश भी लो।

आकाश—"जैन सिद्धान्त दर्पण" पृष्ठ १६१ "भावार्थ—प्रत्येक द्रव्य में अपने अपने अगुरुलघुगुण की पूर्व अवस्था के त्याग को व्यय कहते हैं और नवीन अवस्था की प्राप्ति को उत्पाद कहते हैं। इन व्यय और उत्पाद में किसी दूसरे पदार्थ की अपेक्षा नहीं है, इसलिये इनको स्वप्रत्यय (स्वनिमित्तक) कहते हैं। जीव और पुद्गल द्रव्य में अनेक प्रकार विभाव

व्यञ्जन पर्याय होते रहते हैं। प्रथम समय में किसी एक पर्याय-रूप परिणत जीव अथवा पुद्गल द्रव्यको आकाश द्रव्य अवकाश देता था, किन्तु दूसरे समय में वही आकाश द्रव्य किसी दूसरी पर्यायरूप परिणत उसही जीव अथवा पुद्गल को अवकाश देता है। जब अवकाश योग्य पदार्थ एक स्वरूप न रहकर अनेक रूप होता रहता है, तो आकाश की अवकाश दातृत्व शक्ति में भी अनेक रूपता स्वयं सिद्ध है। यह अनेक रूपता जीव और पुद्गल के निमित्त से होती है, इसलिये इसको पर प्रत्यय कहते हैं।" अब आकाश में परिणमन बतलाना आपकी योग्यता का सूचक है। बस यह याद रखना चाहिये कि सृष्टि तथा प्रलय में आप में और हमारे में भेद नहीं है। आपकी प्रलय को सिद्ध करते हुए जो मैं ने प्रमाण दिये थे उसमें मैं ने २००० कोस का योजन बतलाया था, इस पर आपने लिखा कि यह जैनशास्त्रों से अनभिज्ञता के कारण है। श्रीमान् जी अब वे दिन गये जब आपको ऐसी बातों का कुछ मतलब होता था। क्या जैनसमाज में ऐसा कोई विद्वान है जो दो हज़ार कोस के योजन को असिद्ध कर सके। यदि ऐसा हो तो इसी पर शास्त्रार्थ की हार जीत रही। असल बात तो यह है कि आपको कुछ लिखना है। बस इस प्रयोजन को पूरा करने के सिवा आठों पृष्ठों में एक भी शब्द युक्तियुक्त अथवा सार्थक नहीं है। शोक है कि जैनसमाज के विद्वान निरर्थक और असंगत लेख लिख रहे हैं।

कर्मफल और जैनशास्त्र

श्रीमान् जो आपका यह लिखना कि कर्म स्वयं फल देते हैं यह जहाँ युक्ति से विरुद्ध है वहां जैन शास्त्र भी इसका विरोध करते हैं। क्योंकि जैन शास्त्रों में स्वर्ग का और नरक का वर्णन है तथा नरक में असुर कुमार कर्मों का फल देते हैं और स्वर्ग में अप्सरायें सुख देती हैं यथा—आदि पुराण पर्व १० श्लो० ४१ से ५० तक में लिखा है कि तीसरे नरक तक असुर कुमार जाकर नारकियों को परस्पर लड़ाते हैं तथा कलह करने की प्रेरणा करते हैं तथा कइयों को तांबा पिला कर दुःख देते हैं, लाल लाल गरम तांबे से जब तन भस्म हो जाता है तो उनसे कहते हैं कि यह शराब पीने का फल है तथा अनेकों को खण्ड २ करके घाणी में पेलते हैं, कितनों ही को कढ़ाई में औटाते हैं, बहुत सों को उनका ही मांस काट २ कर उनको खिलाते हैं और उनसे कहते हैं कि यह मांस भक्षण का फल है, इत्यादि।

श्रीमान् जो शराब पीने और मांस खाने तथा अन्य पापों का फल नरक में दूसरे देने वाले हैं। अब यदि कर्म ही स्वयं फलदाता होते तो इन असुर कुमारों को तथा अन्य प्राणियों की क्या आवश्यकता थी। इससे यह तो स्पष्ट सिद्ध हो ही गया कि कर्मफलप्रदाता कोई अन्य बुद्धिमान शक्ति है। तथा च एक और भी प्रश्न स्वाभाविक उत्पन्न होता है। वह यह है कि ये असुर कुमार नरक में क्यों जाते हैं? अपनी इच्छा से

जाते हैं अथवा किसी के हुकम से। प्रथम पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि कोई भी जीव अपनी इच्छा से नरक में नहीं जाना चाहता। यदि दूसरा पक्ष स्वीकार करें तो यह प्रश्न होता है कि वह कौन है जिसके हुकम से ये ऐसा करते हैं तथा ये उसका हुकम ही क्यों मानते हैं, क्या कुछ वेतन मिलता है अथवा बलात्कार मानते हैं। यदि वेतन मिलता है तो कितना और वह कहाँ मिलता है, एवं वेतन देने वाला ही कहाँ से धन लाता है, किसी पर कर लगाता है अथवा डाके डालता है। यदि इन सब प्रश्नों को न भी करें तो भी यह प्रश्न तो उठता ही है कि ऐसा करने वाला एक व्यक्ति है, अथवा कोई सभा है। पुनः वह एक व्यक्ति या सभा ऐसा क्यों करती है—अपने स्वार्थवश अथवा पराधीन होकर। वास्तव में तो आप लोगों ने एक ईश्वर त्याग कर अनेक कल्पनायें कीं। परन्तु ये कल्पनायें इतनी निर्बल हैं कि युक्ति के आगे किसी प्रकार भी स्थिर नहीं रह सकतीं। अस्तु इसी प्रकार जैन शास्त्रों में स्वर्ग की कल्पना की है। वहाँ देवाङ्गनायें इस जीव को सुख देने के लिये नियत हैं। उपरोक्त सम्पूर्ण प्रश्न यहाँ भी उपस्थित होते हैं। बस इन सब बातों से यह सिद्ध है कि कर्म जड़ होने के कारण स्वयं फल नहीं दे सकते। इस बात को जैन शास्त्र भी स्वीकार करते हैं।

ह० सोहनलाल आर्य, मंत्री आर्यसमाज, पानीपत।

जैनसमाज का उत्तरपत्र

[तारीख़ ६-११-३३—समय ११-५० दोपहर]

आर्यसमाज ने हमारे निम्नलिखित प्रमाणों और प्रश्नों के सम्बन्ध में कुछ भी जवाब नहीं दिये :—१. आर्यसमाज का परमात्मा सर्वज्ञ या बुद्धिमान सिद्ध नहीं होता क्योंकि वह ज्ञान या बुद्धि उससे भिन्न पदार्थ है; फिर यह परमात्मा की है, इसमें क्या प्रमाण और नियामक ? दोनों का सम्बन्ध कहने वाला समवाय भी एक भिन्न पदार्थ है और वह ज्ञान या बुद्धि का परमात्मा में ही सम्बन्ध करै और आकाश में न करै ऐसा कैसे हो सकता है ? २. गुण परमात्मा से भिन्न पदार्थ हैं तो परमात्मा फिर निःस्वरूप होने से अभाव रूप ठहरता है। ३. प्रलयकाल में जीव आत्मा कर्म और लिङ्ग शरीर सहित होती है या रहित ? ४. प्रलय काल में परमाणुओं के भिन्न भिन्न अवस्था में रहने से मुक्त आत्मा भोग योग्य शरीर आदि कैसे बनाता है ? ५. कर्म और फल का लक्षण आर्यसमाज के सिद्धांतानुसार क्या है ? ६. ईश्वर जगतकर्ता नहीं, "जगत के अनादि होने से"। ७. ईश्वर जगतकर्ता नहीं, "आधुनिक विज्ञान के प्रतिकूल होने से"। ८. ईश्वर जगतकर्ता नहीं, "हमारे द्वारा ग्रहण योग्य परिमाण न होने से"। ९. ईश्वर जगतकर्ता नहीं, "ईश्वर के नित्य सर्वव्यापक होने से"। १०. ईश्वर जगत-

कर्ता नहीं, "ईश्वर के अशरीरी एवं इच्छा रहित होने से"।
११. ईश्वर जगतकर्ता नहीं, "कार्य कारण के विरोध होने से, प्रमाण में अमैथुन्य सृष्टि"।

एक अनुमान हमने यह दिया था कि "ईश्वर जगतकर्ता नहीं" उसके साथ अन्वयव्यतिरेक के न मिलने से। इसके सम्बन्ध में आर्यसमाज अपने दूसरे उत्तर-पत्र में लिख चुका है कि अन्वयव्यतिरेक एक देशीय कार्य कारण में होता है, इससे स्पष्ट है कि आर्यसमाज अपने इस पत्र में स्वयं स्वीकार कर चुका है कि सर्व व्यापक ईश्वर के साथ उसके कार्यों का अन्वय-व्यतिरेक नहीं। अब तीसरे पत्र में आर्यसमाज का यह लिखना कि अन्वयव्यतिरेक है, क्या परस्पर विरोधी बात नहीं? ऐसा करने से ईश्वर तो जगत का कर्ता सिद्ध नहीं होता किन्तु आर्यसमाज प्रतिज्ञाहानि निग्रह स्थान का पात्र है।

सृष्टि और प्रलय के सम्बन्ध में जैन सिद्धांत और आर्य-समाज की मान्यता एक है यह भी आर्यसमाज का भोलापन है। दोनों मतों में निम्नलिखित भेद हैं:—

१. आर्यसमाज मतानुसार प्रलयकाल में समस्त लोक चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष पर्यन्त निष्क्रिय अनुरूप हो जाता है। उस समय न जीवों के रहने का कोई आयतन है न उनके करम भोग का कोई साधन है और न उनके बंध और मोक्ष की कोई व्यवस्था है परन्तु जैन शास्त्रोक्त प्रलय काल में समस्त लोकों की व्यवस्था बनी रहती है और उसमें रहने

वाले जीव भी यथाकर्म फल भोगते रहते हैं। बंध और मोक्ष व्यवस्था भी ज्यों की त्यों बनी रहती है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारागण, स्वर्ग, नरक व मध्यलोक अन्तर्गत जम्बूद्वीप आदि पृथ्वियाँ भी यथा नियम स्थित रहती हैं, केवल जम्बूद्वीप अन्तर्गत सात क्षेत्रों में से भरत ऐरावत क्षेत्र के अन्तर्गत आर्यवर्त खण्ड की ऊपर की किञ्चित् मात्र भूमि भूकम्प, जल-बाढ़ आदि कारणों से कुछ समय के लिये मनुष्य आदि कुछ प्राणियों के रहने के अयोग्य हो जाती है।

२. आर्यसामाजिक प्रलय का कारण उनका माननीय नित्य व्यापक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान और दयालु ईश्वर है, परन्तु जैनशास्त्रोक्त वृद्धि ह्रास का कारण स्वयं पुद्गल द्रव्य है।

३. आर्यसामाजिक सृष्टि सर्वथा प्रलय निष्क्रिय दशा पूर्वक होती है परन्तु जैन शास्त्रोक्त जगत समुदाय दृष्टि से अनादि और अनंत रहता है। जैन शास्त्रोक्त जगत में कोई समय ऐसा नहीं जबकि पुद्गल व आत्मा निष्क्रिय हो जाती हो या मोक्षमार्ग ही बन्द हो जाता हो।

इससे स्पष्ट है कि जैनसिद्धान्त और आर्यसमाज की मान्यता में सृष्टि और प्रलय के सम्बन्ध में ज़मीन और आसमान का सा अन्तर है। जब तक आर्यसमाज अपनी मान्यता के अनुसार प्रलय को प्रमाणित नहीं कर देता तबतक सृष्टि एवं उसके कर्ता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सक्ता। जैसे कि जैनसिद्धान्त और आर्यसमाज की मान्यता में सृष्टि और प्रलय के सम्बन्ध में एकता नहीं है, वैसे ही कर्ता-

वाद के सम्बन्ध में भी। जैनशास्त्र काल को उदासीन कारण मानते हैं, यह हम पहले ही लिख चुके हैं। अब इसपर आर्य-समाज ने यह लिखा है कि "क्या कारण कार्य का कर्ता नहीं होता"; इससे तो आर्यसमाजने न्याय शास्त्र का गला घोटा है। कारण कि कर्ता के साथ व्याप्ति नहीं किन्तु कर्ता की कारण के साथ है। अतः कारण से ही किसी को कर्ता सिद्ध नहीं किया जा सका। यह बात तो आर्यसमाज के लिये भी घातक है। इसमें तो उसको काल आकाश और अन्य कारणों से भी जगत का कर्ता मानना पड़ेगा क्योंकि वे भी जगत के कारण उन्होंने माने हैं। ऐसा होने का क्या परिणाम होगा, यह आर्यसमाज स्वयं विचारे और अपने लिखने पर पश्चाताप करे। इस प्रकार की एक त्रुटि आर्यसमाज ने "स्थूल इन्द्रियों का विषय" इस साधन के सम्बन्ध में की है। यह कार्य की सिद्धि में जब दिया गया था तब हमने दो परमाणुओं के समुदाय स्वरूप स्कंध में भागासिद्ध दूषण दिया था। इस पर आर्यसमाज इसको परमाणु समुदाय स्वरूप में घटाती है, यह समाज का छल प्रयोग है; अतः फिर निग्रह स्थान है। दो परमाणुओं का स्कंध स्थूल इन्द्रियों का विषय है यह बात कोई नहीं मानता, अतः भागासिद्ध दूषण तदवस्थ है। अब स्थूल इन्द्रियों का विषय इसको कार्य का लक्षण लिखा है। ऐसी अवस्था में यहां अव्याप्ति दूषण आता है, क्योंकि यह सम्पूर्ण लक्ष्य रूप कार्य में नहीं रहता। दृष्टान्त के लिये इसही दो परमाणुओं के

स्कंध को ले लो। यहां हम यह भी प्रगट करे देते हैं कि जैन-दर्शन कार्य का लक्षण चाक्षुष नहीं मानता। आर्यसमाज ने इस प्रकार की त्रुटियां एक दो स्थानों पर ही की हों, यह बात नहीं किन्तु जहां जैन शास्त्रों का सम्बन्ध है वहां भी आर्य-समाज का यही हाल है। जिस पंचास्तिकाय के दृष्टान्त से उस सृष्टि को सिद्ध करना चाहता है वह तो उसके विपरीत ही सिद्ध करता है। पंचास्तिकाय के पाँचवें श्लोक में इस स्थान पर वह पद आया है जो आर्यसमाज ने अपने पत्र में लिखा है—येषामस्ति स्वभावः गुणै सह पर्य्यायैर्विविधैः। ते भवंत्यास्ति कायाः निष्पन्नं यैस्त्रैलोक्यं॥ अर्थात् जिनका नाना प्रकार के गुण और पर्य्यायों के साथ रहने का स्वभाव है ऐसे जीव आदिक पंचास्ति कायों का समुदाय स्वरूप यह लोक है। इसी प्रकार आर्यसमाज का दूसरा पद निम्नलिखित स्थान पर आया है—बादर सूक्ष्म गतानां स्कंधानां पुद्गल इति व्यवहारा ते भवन्ति षट प्रकारास्त्रैलोक्ये यै निष्पन्नं अर्थात् बादर और सूक्ष्म स्कंधों में पुद्गल व्यवहार है और यह छः प्रकार है तथा तीन लोक इनका समुदाय स्वरूप है। यहां इनमें ऐसा कोई पद नहीं जिसका भाव आर्यसमाज को प्रलय को सिद्ध करता हो—यह तो लोक को ऐसे पदार्थों का समूह स्वरूप बतलाता है जिनमें जीव और आकाशादि भी हैं। इससे प्रगट है कि जैन शास्त्रों से आर्यसमाज की सृष्टि और प्रलय सिद्ध नहीं होती; जैन शास्त्रों से आर्यसमाज की सृष्टि

और प्रलय सिद्ध करना ऐसा ही है जैसे प्रकाश से अन्धकार की रक्षा करना। यही बात राजवार्तिक के परमाणुवाद की है। क्या आर्यसमाज ने यह समझा है कि जैन शास्त्रों के हवालों के लिखने मात्र से कार्य की सिद्धि हो जायेगी? राजवार्तिक का वह प्रकरण जिसको आर्यसमाज ने तीसरे पत्र में लिखा है उससे वह क्या सिद्ध करना चाहता है? राजवार्तिक का यह प्रकरण बतलाता है कि परमाणुओं में भी गुणों की दृष्टि से संयोग वियोग होता है, यही वैज्ञानिक मत है। ऐसा ही पहले भी लिख चुके हैं तथा ऐसा होने से आर्यसमाज की जड़ खुदती है। यही बात जैनसिद्धान्त दर्पण के विषय में है यानी वह भी आर्यसमाज की मान्य सृष्टि का समर्थन नहीं करता। यदि आर्य-समाज ऐसा समझता है तो बतलावे कि उसने ऐसा भाव किन शब्दों से निकाला है।

कार्यत्व हेतु में साध्य-विकल-दृष्टान्त, विरुद्ध और व्यभिचारी दोष दे चुके हैं जिनका कुछ भी जवाब नहीं है। अतः यह साधन साधनाभास ही है। इस हेतु में एक दोष ईश्वर ज्ञान से भी दिया था और यह कहा था कि कार्य का लक्षण तो इसमें भी रहता है, किन्तु इसका कर्ता कोई नहीं। इस पर आर्य-समाज ने लिखा है कि ईश्वर ज्ञान सर्वदा सर्वथा एक रूप में रहता है। ईश्वर ज्ञान पर हमारा यह आपाद दूषण था कि यदि ईश्वर ज्ञान को आर्यसमाज अपनी मान्यता के अनुसार ही मानेगा तो वह सर्वज्ञ तो क्या वह एक पदार्थ का भी ज्ञाता न रहेगा। क्या बतला सकते हैं कि आपके ईश्वर का ज्ञान स्वामी

दयानन्द जी को उनके लड़कपन में जैसा जानता था वैसा ही उनकी जवानी और वृद्धावस्था में जानता है या भिन्न ? यदि वैसा ही मानोगे तो जवानी और वृद्धावस्था में भी जवानी और वृद्धावस्था का ज्ञान अगाड़ी की अवस्था में होना चाहिये और ऐसा होने से यह ज्ञान मिथ्या ठहरेगा, क्योंकि लड़कपन में तो स्वामी जी की जवानी और वृद्धावस्था उसकी अगाड़ी की हालतें होसकती थीं किन्तु जवानी की वृद्धावस्था में कैसे ? यदि दूसरे ढंग से जानता है तो परिवर्तन स्वयम् सिद्ध है। इससे स्पष्ट है कि ईश्वर ज्ञान भी परिणमनशील है । अतः उससे भी कार्यत्वहेतु व्यभिचारी है। "ईश्वर जगतकर्ता नहीं" इसके समर्थन में हमने एक युक्ति यह भी दी थी कि वह सशरीरी और इच्छा रहित है। इसको आपने काल के सम्बन्ध में घटित करने की चेष्टा की है और लिखा है कि काल जैन सिद्धान्त अनुसार निष्क्रिय इच्छा रहित अशरीरी व्यापक और नित्य है, किन्तु यह बात ग़लत है। जैन शास्त्र काल को व्यापक और सर्वथा नित्य नहीं मानता और इसके जड़ होने से इसमें इच्छा और शरीर की संभावना ही नहीं। दूसरे जैनी लोग काल को कर्ता नहीं मानते इसका खुलासा हम कई जगह कर चुके हैं। अतः परमात्मा के सम्बन्ध की बातें काल में घटित नहीं हो सकतीं। हां इससे एक बात तो ज़रूर है और वह यह है कि इससे यह पता लग जाता है कि आर्यसमाज को जैन शास्त्रों का कितना ज्ञान है ? क्या आर्यसमाज हिम्मत कर

सकता है कि वह इस बात को जैन शास्त्रों से बतला सके कि काल एक व्यापक पदार्थ है ? हम तो इस पर शास्त्रार्थ की जय पराजय की बाज़ी लगाने को तय्यार हैं, अब आर्यसमाज की मरज़ी है कि वह अपने जैन शास्त्रों के ज्ञान की परीक्षा करले। अजी महाशय जी ! जैन शास्त्रों की बात तो दूर ही रही आपकी इस मान्यता को तो आपके मान्य शास्त्र ही और उनमें भी स्वतः प्रमाणभूत आपके वेद भगवान ही अपनी वाणी द्वारा इसका खण्डन करते हैं। देखिये—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः । अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥६॥ इयंविसृष्टिर्यदि आबभूव यदिवादधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमेव्योमन्तस्ते अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ ऋग्वेद १०,१२९,१,६-७ अर्थात् यह सृष्टि जिस निमित्त अथवा उपादान कारण से बनी अथवा इसका धारण करने वाला कोई है या नहीं ? इस बात को कोई जानता होगा या नहीं और अगर कोई जानता होगा वह अध्यक्ष जानता हो जो परमव्योम में रहता है। और शायद यह भी न जानता हो।

अब कहिये कि जब आपके सर्वज्ञानाधार परमात्मा का यह हाल है कि वह सृष्टि के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते तो आपको सृष्टिकर्ता के अपूर्व सिद्धान्त की भविष्यवाणी कहां से हो गई ? यह अभ्युपगम सिद्धान्त का वक्तव्य है। "ईश्वरासिद्धेः" सांख्यदर्शन १,९२ अर्थात् ईश्वर असिद्ध है। आपके

माननीय कपिल ऋषि ने तो ईश्वर पर ही हाथ सफ़ा किया है।

"तस्मिन काले सत्य कृत्यात्मकमव्यक्तं सत्संज्ञकं यज्जगत्कारणं तदपि नो आसीन्नावर्तत" ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृष्ठ ११६ अर्थात् जिस समय जगत पैदा हुआ था उस समय अव्यक्त प्रधान नहीं था। यह है स्वामी दयानन्द का कथन। अब कहिये ईश्वर ने जगत को काहे से बनाया ?

लोकअविनाशी है "अक्षितावैलोका" शतपथ ब्राह्मण १२ ३-४-११ ॥ इन सब बातों से स्पष्ट है कि ईश्वर जगतकर्ता नहीं है।

ह० मुनिसुव्रत दास जैन
प्रतिनिधि जैन समाज, पानीपत।

---

[४]

आर्यसमाज का पत्र

[तारीख़ ६-११-३३—समय ४ बजे सायंकाल]

जब यह सिद्ध हो चुका कि सृष्टि उत्पत्ति धर्म्म वाली वस्तु है, तथा आप इसके किसी चैतन्य बुद्धिमान् कर्ता को स्वीकार नहीं करते तो आपके मत में तीन विकल्प हो सकते हैं—(१) इस सृष्टि में उत्पत्ति आदि अकस्मात् होते हैं। (२) जड़ पदार्थों के स्वभाव (कुदरत) से ऐसा होता है। (३) सृष्टि का नियम ही ऐसा होने का है अर्थात् इन सबका कारण नियम है। प्रथम पक्ष में अकस्मात् शब्द से आपका क्या अभिप्राय है ? अर्थात् बिना इच्छा के हो कोई कार्य होजावे उसको अकस्मात् कहते हैं, अथवा बिना परामर्श के किये कोई कार्य हो उसको अकस्मात् कहते हैं। यदि प्रथम पक्ष मानें तब तो बिना इच्छा के कोई क्रिया नहीं दीखती, क्योंकि जहां २ क्रिया है वहां वहां उसका इच्छा पूर्वक कर्ता होता है। यदि दूसरा पक्ष मानें तो क्या आप यह कहते हैं कि एक शक्ति तो पृथ्वी बना रही थी तथा दूसरी शक्ति सूर्य बना रही थी, इसी प्रकार प्रथक २ शक्ति

पृथक २ वस्तुयें बना रही थीं, परन्तु उन शक्तियोंने इनके संबंध का परामर्श नहीं किया था। जब ये बनकर तय्यार हो गईं तो एक दूसरे की आकर्षण शक्ति से एक दूसरे का अपने आप सम्बन्ध होगया। यदि ऐसा है तब तो आपने एक ईश्वर को कर्ता न मानकर असंख्य ईश्वरों को कर्ता मान लिया। इसलिए अकस्मात् का तो कोई अर्थ ही नहीं है। तथा श्रीमान् जी! यह मानना कि प्रकृति के जड़ परमाणुओं से घुणाक्षर न्याय की तरह सृष्टि उत्पन्न होगई ऐसा ही है जैसा यह मान लेना कि आपका यह लेख हिन्दी के अक्षरों से स्वयं ही अकस्मात् लिखा गया। श्रीमन्! परमाणु स्वयं इतना विशाल तथा सुदृढ़ प्रबन्ध किस प्रकार रच सकते हैं? जब तक कि उन परमाणुओं को नियमानुसार यथा योग्य स्थान पर कोई बुद्धिमान् नियुक्त न करे तब तक वे स्वयं किस प्रकार कार्य कर सकते हैं? जो कार्य केवल ज्ञान द्वारा ही हो सकता है उसके लिए जड़ पदार्थों को जिम्मेवार ठहराना ऐसा ही है जैसे आपके इस लेख के क्रम का अक्षरों को जिम्मेवार बताना। श्रीमान् जी यदि आपके इस लेख में कहीं भूल है अथवा कोई युक्ति युक्त बात है तो क्या इसका कारण अक्षरों का अकस्मात् मिल जाना है? ऐसा विश्वास करना अन्ध विश्वास की पराकाष्ठा है। श्रीमान् जी आप ही नहीं संसार के सम्पूर्ण प्रकृतिवादी मिलकर यदि अनन्तानन्त वर्ष भाषा के अक्षरों को उछालते रहें तो भी इतना बड़ा लेख तो क्या एक पंक्ति भी सार्थक न लिखी जावेगी।

जब ऐसा है तो यह संसार अकस्मात् बन गया, इस बात पर बिना प्रमाण के किस प्रकार कोई विद्वान् कैसे विश्वास करले? भगवन् आपने कभी यह भी विचार किया कि जब अकस्मात् इतना सुन्दर और सुडौल चाँद बन सकता है, तारे बन सकते हैं, सूर्य बन सकता है तो एक छोटासा दीपक क्यों नहीं बन जाता। अथवा जब बड़े से बड़े पहाड़ बन सकते हैं और उन पर नाना प्रकार के सुगन्धित वृक्ष लग सकते हैं तो हमारे यहां एक छोटा सा गमला ही क्यों नहीं बन जाता और उस में एक छोटा सा पुष्प ही क्यों नहीं लग जाता? जब आप पृथ्वी आदि को देखकर यह अनुमान कर लेते हैं कि इन वस्तुओं का कोई कर्ता नहीं है तो पुराने मकानों को देख कर भी यह क्यों नहीं समझ लेते कि ये भी स्वयं बनगये होंगे। जब आप एक मनुष्य को देखकर भी उसके कर्ता का ज्ञान नहीं करते तो घड़ें को देखकर आप कैसे अनुमान करेंगे कि इसका कोई बनाने वाला है। आप एक काग़ज़ के फूल को देखकर तो उसके कर्ता का अनुमान उसी समय करलेते हैं परन्तु हठ की सीमा तो देखिये कि जिस फूल की वह नकल किया गया है, न तो इसमें वह सौन्दर्य है और न वह रङ्ग है, तथा सुगन्धि का तो नाम भी नहीं, इस अवस्था में भी आप उस सर्वगुण सम्पन्न पुष्प की बजाय इसके कर्ता का अनुमान करते हैं—किमाश्चर्य-मतः परम्। और यदि आप यह कहें कि उस काग़ज़ के पुष्प का कर्ता तो किसी न किसी ने प्रत्यक्ष देखा है। परन्तु असली

पुष्प का कर्ता तो प्रत्यक्ष नहीं। फिर तो आप के यहां अनुमान प्रमाण ही नहीं रहा। आप प्रत्यक्षवादी बन गये। तथा च एक कारीगर ने एक अपूर्व वस्तु नई ईजाद की, उसको वह बाज़ार में लाकर कहने लगे कि यह स्वयं उत्पन्न हुई है, इसका कोई बनाने वाला नहीं है। अब उसके बनाने वाले को प्रत्यक्ष तो किसी ने देखा नहीं और अनुमान—आपकी तरह वह भी कहता है कि जिस प्रकार पर्वतादि बिना कर्ता के बन गये ऐसे ही यह भी स्वयं बनगया, तो आपके पास कौनसा प्रमाण है जिससे आप इसकी बात का खण्डन करेंगे अथवा उस पर ईमान लाने का साहस करेंगे। यदि ऐसा है तब तो आपकी बुद्धि की प्रशंसा करनी चाहिये और यदि उसकी बात का खण्डन करेंगे तो जिस प्रमाण से उसका खण्डन होगा उसी से आपकी बातका खण्डन हो जावेगा। यदि विश्वास न हो तो आप उसके खण्डन में युक्ति देकर परीक्षा करलें। बस यह सिद्ध है कि यह संसार अकस्मात् नहीं बनसकता। और यदि आप स्वभाव से उत्पन्न मानते हैं तो फिर प्रश्न उत्पन्न होता है कि स्वभाव किसका—जड़ प्रकृति का अथवा जीव का अथवा किसी अन्य पदार्थ का? यदि प्रकृति का, तब तो पूर्वोक्त अनेक शङ्कायें हैं जिनका समाधान कोई प्रकृतिवादी नहीं कर सकता। यदि जीव के स्वभाव से, तो जीव अल्पज्ञ और अल्प शक्ति वाला होने से इतना बड़ा संसार बना सके यह सर्वथा असम्भव है। यदि किसी अन्य पदार्थ का है तो वह जड़ है या चैतन्य? यदि जड़ है तब तो

फिर वही प्रश्न। यदि चैतन्य है तो आपके सिद्धान्त की हानी। अब रह गया नियम। सृष्टि नियम को सृष्टिकर्त्ता बतलाना ऐसा ही है जैसे इस शास्त्रार्थ के नियम को शास्त्रार्थ का कर्त्ता कहना। श्रीमान् जी, आप अपने इन शब्दों पर यदि ध्यानपूर्वक विचार करेंगे तो आपको अपने इन शब्दाडम्बरों का खोखलापन स्वयं प्रगट हो जायगा। एक बात यह है कि यहाँ नियम का हो तो कारण जानना है और आप उसी नियम को कारण बता रहे हैं। नियम का कारण नियम हो है यह आत्माश्रय दोष है। पंडित जी महाराज आप इस बात का उत्तर दें कि जब आपके सभी पदार्थ निष्क्रिय हैं तो संसार में क्रिया कहाँ से आई। तथाच प्रत्येक वस्तु जो बनी हुई होती है उसमें निम्न बातें होती हैं:— एक तो वह वस्तु तथा दूसरी उसकी आकृति। वस्तु तथा वस्तु के गुण उपादान कारण से आते हैं परन्तु आकृति तो हमेशा कर्ता के दिमाग़ से आती है। जिस प्रकार घटका उपादान कारण तो मिट्टी है परन्तु उसकी आकृति कुम्हार के ज्ञान से आई है। यद्यपि यह आकृति मिट्टी में थी परन्तु मिट्टी बिचारी को क्या ज्ञान था कि मकान की आकृती इस प्रकार की बनानी और घड़े की इस प्रकार की। क्या आप मकान की आकृती को देख कर मिट्टी को दोष देते हैं अथवा उसकी प्रशंसा करते हैं? बस संसार में भी आकृति विद्यमान है। इसलिये यह भी किसी बुद्धिमान के ज्ञान से आई है। और भी अनेक बातें हैं जिनसे सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर सिद्ध होता है; यथा सृष्टि में (१) नियम (२)

प्रयोजन, कोई वस्तु निरर्थक नहीं है (३) विशालता, विशालता भी कारीगरी का सूचक है (४) दृढ़ता (५) सौन्दर्य (६) विचित्र कारीगरी, जैसे मनुष्य का शरीर (७) सुव्यवस्था, जिस प्रकार रेलों के आने जाने की व्यवस्था को देखकर उसके व्यवस्थापक का ज्ञान होता है ऐसे ही सूर्य आदि की गति की सुन्दर व्यवस्था देखकर उसके व्यवस्थापक का ज्ञान होता है (८) निर्देशशक्ति। संसार कुछ इने गिने पदार्थों का बना हुआ है। इन थोड़े से पदार्थों से उन्नत प्रकार के पदार्थों का बनाना उस की विशाल बुद्धिमानी प्रगट करता है, जिस प्रकार एक ही क़िसम के लोहे से एक कारीगर यदि अनेक वस्तुएँ बनाता है तो लोग उसकी प्रशंसा करते हैं तथाच एक हलवाई ने घी खाँड और आटे से अनेक प्रकार की मिठाई बनाई तो इन प्रत्येक के स्वाद का जो अन्तर है वह यद्यपि उन चीज़ों की न्यूनाधिकता से हुआ है परन्तु उनको न्यूनाधिक करने वाला और ठीक सेंकने वाला तो हलवाई ही है।

स्वर्ग

मध्य लोक से ६ राजू ऊपर सोलहवां स्वर्ग है। अच्युतेन्द्र के १५९ विमान हैं जिनमें देव रहते हैं। तथा चालीस हज़ार अङ्गरक्षक हैं, जो खवास के तुल्य हैं। वे इन्द्र की शोभा के वास्ते हैं, अन्य कुछ भी उनका प्रयोजन नहीं है। तीन सभायें हैं जैसे यहां राजाओं की होती हैं। चार लोकपाल हैं जो स्वर्ग की सीमा तक रक्षा करते हैं। उनकी एक सौ अट्ठाइस स्त्रियां तथा इन्द्र की

आठ पटरानियाँ वे इन्द्र के मन रूपीलोहे को आकर्षण करने वाली मानों चुम्बक की पुतलियां हैं। तथा त्रेसठ वल्लभा तथा एक एक पट्टरानी सम्बन्धी अट्ठाईस सौ रानियाँ सर्व बीस सौ इकहत्तर देवांगनायें हैं। ये सब (एक एक) एक लाख बाईस हज़ार रूप बनाकर दिखाती हैं। सात प्रकार की सेना उसमें हाथी घोड़े रथ आदि लाखों हैं। और उसमें तीन लाख बीस हज़ार गंधर्व, छह लाख चालीस हज़ार नाचने वाली देवांगनायें महेन्द्र को आनन्द देती हैं। उन देवांगनाओं की अनुपम सुंदरता है तथा मंजुलमुख और भव्यभूषण हैं जिनके सुन्दर सुर ताल से राग रागिनी गाती हैं। और अनेक हाव भाव से इन्द्र का मन हरती हैं। वह इन्द्र उनके कपोलरूपी दर्पण में अपना मुख देखता रहता है। तथा उनके नेत्र कामवाण के समान हैं। तथा भौंह रूपी धनुष से निकले हुए बाणों से विंध गयाहै हृदय जिसका, ऐसा वह इन्द्र इन देवांगनाओंको हाथसे स्पर्श कर सुख रूप रमता भया। (आदि पुराण पर्व १०)। इसी पर्व के श्लोक २०४ में लिखा है कि उपरोक्त सामग्री जिनधर्म के प्रभाव से प्राप्त होती है। इसलिये जो मनुष्य ऐसा सुख चाहें वे जिनभाषित वचनोंपर श्रद्धा करें। यही बात रत्नकरंडमें है—

अष्ट गुण तुष्टि पुष्टा दृष्टि विशिष्टाः प्रकृष्ट शोभा जुष्टाः।
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः ॥ ३७ ॥

तथा त्रिलोकसार में स्पष्ट लिखा है कि वहाँ गणिकायें होती हैं। यथा—

गणिका महत्तरीणां पुराणि तत्रैवाग्नि प्रभृतिषु ।
विदिशासु लक्षयोजन विस्तारायाम साहितानि ॥ ५०५ ॥

स्वर्गीय पंडित टोडरमल जी ने इसकी भाषा में लिखा है कि जैसे यहां वेश्या (रण्डी) होय हैं तैसे वहाँ गणिका देवांगनायें जाननी। तथाच इसका श्लोक ५०६ भी कुछ इस प्रकार का वर्णन करता है। अस्तु हमारा प्रश्न तो यह है कि इन स्वर्गों में इस प्रकार की व्यवस्था किसने की है ? यद्यपि ये सब बातें कल्पित हैं परन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि इन स्वर्ग तथा नरक की कल्पना करके भी इसके नियम को जड़ पुद्गल के आश्रय छोड़ दिया। भला आपने कभी विचार भी किया कि यह बुद्धिहीन जड़ पदार्थ इतने २ बड़े स्वर्ग और नरक की व्यवस्था कैसे कर सकेगा तथा यह जड़ कर्म यह कैसे जानेगा कि अमुक मनुष्य जैनी है इसे स्वर्ग ले चलो।

ह० सोहनलाल आर्य्य, मंत्री आर्यसमाज, पानीपत।

जैनसमाज का उत्तरपत्र

[तारीख़ ६-११-३३—समय ७-५० बजे रात्रि]

अबतक जितने भी प्रमाण आर्यसमाजने ईश्वर को जगत-कर्त्ता सिद्ध करने के लिये उपस्थित किये थे उनका यथोचित समाधान जैन समाज की ओर से यथा समय किया जा चुका

है; साथ ही साथ ऐसे अनेक प्रमाण भी जैन समाज की ओर से उपस्थित किये गये हैं जिनसे ईश्वर का जगतकर्त्ता सिद्ध होना खण्डित है। यहां तक ही नहीं जैन समाज ने तो यह भी प्रमाणित कर दिया है कि आर्यसमाज का वह परमात्मा सर्वज्ञ या बुद्धिमान भी प्रमाणित नहीं होता। ऐसी अवस्था में आर्यसमाज का कर्तव्य था कि वह अपने प्रमाणों से जैनियों के द्वारा दिये गये दोषों का खण्डन करता, और जैनियों के प्रमाणों का यथोचित समाधान करता। ऐसा करने से ही आर्यसमाज अपने विषय की सिद्धि की तरफ जा सकता था, किन्तु आर्यसमाज ने ऐसा करना तो दरकिनार उन सब बातों को छूआ तक भी नहीं है। इससे यह प्रमाणित है कि अब आर्यसमाज अपनी युक्तियों का समर्थन एवं जैनियों के हेतुओं का निराकरण नहीं कर सकता और इसका नतीजा आर्यसमाज को खुली पराजय कहा जा सकता है। ऐसी अवस्था में जबकि आर्यसमाज के हेतुओं का खण्डन किया जा चुका है और अकर्त्तावाद के समर्थन में अनेक प्रमाण दिये जा चुके हैं जिनके सामने आर्यसमाज आत्म-समर्पण कर चुका है, जैनियों का कोई कर्तव्य आर्यसमाज की निरर्थक बातों का उत्तर देना नहीं था। फिर भी कहीं वह इन्हीं व्यर्थ बातों के आधार से पब्लिक को धोका न दे सके, अतः इनका भी यथोचित् खण्डन किया जाता है। आर्यसमाज ने जो कुछ भी लिखा है वह इस बात को स्वीकार करके लिखा है कि जैनी लोग सृष्टि और प्रलय को उस ही

प्रकार मानते हैं जैसा की समाजी। यदि आर्यसमाज ने जैनियों के इस विषय के सिद्धान्त को समझ लिया होता तो वह ऐसी भूल शायद न करता। जैन लोग जगत की व्यवस्था किस प्रकार मानते हैं यह हम दोनों की मान्यताओं की तुलना से लिख चुके हैं। जैन सिद्धान्तानुसार इस जगत का समुदाय-दृष्टि से कभी भी अभाव नहीं होता और न कभी यह निष्क्रिय रहता है, अतः इस सम्बन्ध की जितनी भी बातें हैं वे सब आश्रयासिद्ध हैं, इससे आर्यसमाज अप्रतिभानिग्रह स्थान का पात्र हो जाता है, क्योंकि उसने हमारे पहिले उत्तरों को नहीं समझा। इन्हीं को यदि सिद्धान्त की अजानकारी कहें तो आर्यसमाज अज्ञान निग्रह स्थान का भी पात्र होजाता है। महाशय जी, आपका कर्तव्य तो यह था कि आप सबसे पहिले इस बात को प्रमाणित करते कि चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष तक सारे परमाणु भिन्न भिन्न होकर निष्क्रिय पड़े रहते हैं। जब आप यह सिद्ध कर लेते, उस समय आपको दूसरे प्रश्न उठाने थे, किन्तु ऐसा नहीं कर सके हैं, अतः "मूला भावे कुतो शाखा" के न्याय से आपका सारा ज़खीरा ही व्यर्थ हो गया।

आकृति की व्याप्ति कर्ता के साथ नहीं, यदि ऐसा ही स्वीकार कर लिया जाय तो परमाणुओं का भी कर्ता मानना पड़ेगा, क्योंकि यह भी वस्तु होकर आकृति वाला है, यदि परमाणु में आकृति न मानी जायगी तो उनके समुदाय स्वरूप स्कंध में आकृति कैसे आ सकती है। दूसरी बात यह भी है कि आकृति

तो उन पदार्थोंमें भी है जो कि केवल जड़ के ही निमित्तसे होते हैं। कौन कह सकता है कि जङ्गल की आग से पैदा हुई राख में आकृति नहीं है। फिर भी वहां कर्ता स्वीकार नहीं किया गया। तीसरी बात यह है कि परमात्मा के ज्ञान में आकृति नहीं हो सकती, क्योंकि आकृति उसमें आती है जो पहिले आकृति रहित हो, किंतु यह बात परमात्माके ज्ञानमें घटित नहीं होती, क्योंकि उसको आर्यसमाज ने एक रूप माना है। यदि परमात्माके ज्ञान में आकृति मानी जायगी तो आर्यसमाज के नियमानुसार इसका कर्ता भी मानना होगा और यदि उसमें आकृति बिना कर्ता के भी आसकती है तो बाह्य पदार्थों में क्यों नहीं। अन्य भी अनेक बातें इस बात का निराकरण करती हैं। अतः पदार्थों में आकृति के आधार से कर्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार नियम प्रयोजन आदि की व्याप्ति भी कर्तृजन्यता के साथ नहीं है। यह सम्पूर्ण बातें आपके परमात्मा में मौजूद हैं फिर भी आपने उसको कर्तृजन्य स्वीकार नहीं किया है। कौन कह सकता है कि आपके सिद्धान्तानुसार परमात्मा में नियम नहीं, विशालता नहीं, सुन्दरता नहीं, विचित्रता नहीं, अद्भुतता नहीं, सुव्यवस्थितता नहीं या उससे प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ? ऐसा होने पर भी आपने उसको कार्य स्वीकार नहीं किया है। फिर आप उसके आधार से जगत को कार्य कैसे सिद्ध करते हैं। दूसरी बात यह है कि यह बातें जगत में हैं भी नहीं। जगत में नियम, प्रयोजन, सुन्दरता, विचित्रता,

विशालता आदि का रहना अप्रमाणित है। कौन बुद्धिमान कह सकता है कि जगत में प्रत्येक कार्य नियमपूर्वक होता है ? क्या पृथ्वी की नीचाई और ऊंचाई भी नियमानुकूल है ? पहाड़ वगैरह का बेडौल और भद्दापन जगत की सुन्दरता का खूब उपहास करता है। जगत में दुखी, रोगी, अज्ञानी, पापी, भयभीत, चिन्तित और आपत्तियों से पीड़ित अधिकांश व्यक्ति नज़र आते हैं, इससे यह कैसे कहा जा सकता है कि वह सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ दयालु और सर्वव्यापक परमात्मा का कार्य है। नियम द्रव्य है, गुण है, कर्म है या अन्य कोई पदार्थ है ? यदि द्रव्य है तो इसका ईश्वर से क्या सम्बन्ध है। गुण है तो यह कौनसा गुण है और दर्शन शास्त्र में गुण के प्रकरण में इसको क्यों नहीं गिनाया गया। यदि कर्म है तो ईश्वर में क्यों नहीं रहता ? इसी प्रकार अन्य पदार्थ मानने पर भी उक्त दूषण आते हैं। अब कहिये वह नियम जिसकी आप बार २ दुहाई देते हैं क्या पदार्थ है ? साथ ही साथ यह भी लिखने की कृपा करें कि आत्मा और प्रकृति के गुणों का नियामक कौन है ? क्या प्रकृति चेतन भी हो सकती है ? यदि नहीं तो क्यों ? दूसरी बात यह है कि इस नियम का परमात्मा ने किस समय निरधारण किया ? यदि इसके निरधारण का कोई समय है तो उससे पहिले क्या हालत थी ? जगत की व्यवस्था किसके आधीन थी, यदि इसके निरधारण का कोई विशेष समय नहीं है तो जगत में विचित्रता नहीं मिलनी चाहिए क्योंकि नियम का निर्णायक ईश्वर ज्ञान

यदि एक रूप है तो उसके अनुसार कार्यों में विचित्रता कैसी ? तीसरी बात यह है कि यदि नियम परमात्मा के द्वारा निश्चित होता तो जगत में नियम का विरोध देखने में न आता, किन्तु ऐसा नहीं है—अग्नि का स्वभाव चन्द्रकान्त मणि आदि से प्रतिबन्धित होता है, इसी प्रकार आँखों की निर्बलता दवाई एवं चश्मे से दूर करदी जाती है, इससे सिद्ध है कि ईश्वर जगत का नियामक नहीं है ।

कर्मफल

कर्मफल के प्रश्न को स्पष्ट करने के लिए हमने आपसे कई बार पूछा कि कर्म और फल का लक्षण आर्यसमाज क्या मानता है, किंतु आपने सम्भवतः अपनी पोल खुल जाने के भय से हमारे प्रश्न का आजतक कोई उत्तर नहीं दिया। अधिक क्या, आपने तो अपने वक्तव्य में उस बात को ही भुला दिया है, किंतु आप भूलने का भले ही अभिनय करें परन्तु हम आपको भूलने न देंगे। क्या आप बतलाने की कृपा करेंगे कि निम्न लिखित बातें कर्मों का फल हैं या नहीं:—१. गाय पर छुरी चलना २. सती स्त्रीपर बलात्कार होना ३. धर्मात्मा के घर में चोरी हो जाना ४. सन्यासियों का चित्त भी चलायमान होजाना ५. निरपराधियों को दण्ड मिलना और अपराधियों का साफ़ बच जाना। यदि ये कर्मों के फल हैं, तो इनके करने वाले कसाई, अत्याचारी, चोर, व्यभिचारी और अन्याई व्यक्तियों को अपने अपने कर्म के अनुसार फल नहीं मिलना चाहिये, क्योंकि कर्म का फल आपको

मान्यता के अनुसार परमात्मा देता है, अतः ये सभी कार्य इन लोगों के द्वारा परमात्मा ने ही कराये हैं; फिर वे लोग अपराधी कैसे ? क्या वो आदमी भी अपराधी ठहराया जा सकता है जोकि न्यायाधीश की आज्ञा से किसी के बेत मारता है ? और यदि उन लोगों का अपराध न माना जायगा तो फिर हिंसा आदि पाप भी न कहलाएँगे, क्योंकि ऐसे सब कार्य परमात्मा के आदेशानुसार होते हैं और यदि यह काम कर्म के फल नहीं हैं तो उन जीवों को सुख दुख नहीं होना चाहिए, क्योंकि बिना कर्म फल के दुख नहीं होता। यदि यह सब कार्य कर्मफल हैं तो इनका कारण ईश्वर नहीं है। ऐसी दशा में आपका सिद्धान्त खण्डित होता है। और भी यदि आप कर्मफल का दाता ईश्वर को मानते हैं तो उसने वेद विरोधियों को सृष्टि क्यों की और वेद विरोधी अपने पूर्व जन्म के किस कार्य के फल स्वरूप वेद की पोल खोलने वाले बनाये गए। क्या यह कार्य करके ईश्वर ने अपने भक्तों की शान्ति में विघ्न नहीं डाला ! अतः ऐसे ईश्वर को, जो अपनी वाणी वेद को छोछालेदरी को नहीं रोक सकता, आपको दूरसे नमस्कार करना चाहिए। यहाँ हम यह भी नोट कर देना उचित समझते हैं कि आपका यह लिखना कि जो जिससे पैदा होता है वह उसका घातक नहीं होता, जैसे "पेड़ से पैदा हुआ पुष्प उस पेड़ का" मिथ्या है। यदि आप अपनी दृष्टि जरा भी विशाल बनाते तो आपको इसका समाधान मिल जाता। अस्तु, आप ज़रा अपनी दृष्टि को सांख्य-

दर्शन के पहिले सूत्र पर ले जाइये और देखिये कि आध्यात्मिक दुख अपने से ही पैदा होता है और अपना ही घात करता है। इसी प्रकार न्याय दर्शन के दूसरे सूत्र और योगदर्शन के द्वितीय पाद के चौथे सूत्र में अज्ञान या अविद्याको अनेक आपत्तियों का कारण बतलाया है। यहां भी अज्ञान अपने से ही पैदा होता है और अपने ही लिये घातक ठहरता है। व्यवहार में भी आप देख सकते हैं कि आत्म-हत्या का भाव अपने में से ही पैदा होता है और अपना ही घातक हो जाता है। अगर आपने दार्शनिक पुस्तकों को देखा होता तो आप ऐसा लिखने का साहस न करते। कर्म का फल कर्म ही देता है, इसका समर्थन आपके मान्य शास्त्र भी करते हैं—

१. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्मवेदनीयः (योगदर्शन पाद २ सूत्र १२) अर्थात् पाँचों क्लेशों का मूल कर्मों का समूह प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष जन्म में जानने योग्य अर्थात् भोगने योग्य है। २. धर्म जैमिनिरत एव (देखो वेदान्त सूत्र ३-२-४०) अर्थात् जीवात्मा को धर्म और अधर्म ही फल देते हैं यह जैमिनी ऋषि का मत है। ३. गुणन्वयो यः फल कर्म कर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता। स विश्व रूपस्त्रिगुणेस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः (देखो श्वेत उप० ५-७) अर्थात् जो आत्मा गुण-युक्त है, फल वाले कर्मों का कर्ता है, उस किये हुए का वह भोगने वाला है, वह आत्मा विश्व रूप है, सत्व, रज, तम, रूप तीन गुण युक्त है, तीन मार्ग वाला है, इन्द्रियों का स्वामी

है और अपने ही कर्मों से जन्म जन्मान्तरों में फिरता है। ४. यथाकारी यथाचारी तथाभवति, साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापभवति अथो खल्वाहुः काम मया एव अयं पुरुष इति, स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिः सम्पद्यते (देखो बृ० उप० ४-४-५) अर्थात् जैसा कर्म करने वाला जैसे आचरण करने वाला हो वैसा ही हो जाता है। भला कर्म करने वाला श्रेष्ठ हो जाता है और पाप कर्मकर्ता पापी हो जाता है.....पण्डित जन कहते हैं कि यह आत्मा इच्छामय ही है, वह जैसे अभिलाषा वाला होता है उस संकल्प वा प्रयत्न वाला हो जाता है, जिस संकल्प वाला होता है वही कर्म करता है, जो कर्म करता है वही फल भोगता है। इससे स्पष्ट है कि कर्म ही फल दाता है ईश्वर नहीं।

ह० मुनिसुव्रत दास जैन,
प्रतिनिधि जैन समाज, पानीपत।

---

[५]

आर्यसमाज का पत्र

[तारीख ७-११-३३—समय ८ बजे प्रातः]

ईश्वर सृष्टिकर्ता है, इस विषय में आर्यसमाज ने अनेक प्रमाण दिये थे। तथा, जैन शास्त्रों के प्रमाणों से भी यह सिद्ध किया था कि यह जगत कार्य है, और इस कार्य के लिये उपादान और निमित्त कारण की आवश्यकता है। बस आर्यसमाज कहता है कि वह निमित्त कारण ईश्वर है और जैन शास्त्र कहते हैं कि वह काल है। इसके लिये मैं ने अनेक प्रमाण भी दिये थे परन्तु जैन समाज प्रकृत विषय को छोड़कर न जाने क्यों दूर भागना चाहता है। आर्यसमाज की इच्छा थी कि वह विषयान्तर में जैन समाज को न जाने दे परन्तु जैन-समाज के पास इसके सिवा और उपाय ही क्या है। अस्तु! जबकि पञ्चास्तिकाय में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि सूक्ष्म परमाणुओं से ही ये तीनों लोक उत्पन्न हुए हैं, तो इसमें भी आपत्ति क्यों? परन्तु जब आपसे इसका कुछ भी उत्तर न बन पड़ा तो जैन समाज ने जनता को भ्रम में डालने के लिये एक

दूसरे मार्ग का आश्रय लिया, वह शब्दों के मिथ्या अर्थ करने का है। आप लिखते हैं (निष्पन्नं) अर्थात् है। यह लेख देख कर किसी भी विद्वान को हंसी आये बिना न रहेगी। श्रीमान जी! निष्पन्न शब्द में भूतार्थ में क्त प्रत्यय हुआ है अथवा वर्तमान में? यदि इन विद्वानों को इतना ज्ञान होता कि क्त प्रत्यय भूतार्थ ही में होता है तो कभी भी ऐसा लेख लिखने का साहस न करते। परन्तु मैंने तो इस शब्द के अर्थ भी स्वयं नहीं किये थे अपितु जैनाचार्यों का ही अर्थ लिखा था, परन्तु न तो आपने मूल पुस्तक देखी और न ही मेरे लेख को ध्यान से देखा। देखते भी क्यों, जब कि उन्होंने विषयान्तर जाने का ही निश्चय किया हुआ है। अब हम पुनः इसके वे अर्थ जो जैनाचार्यों ने किये हैं प्रमाण सहित लिखते हैं—(त्रैलोक्यं निष्पन्नं) अर्थ—निष्पन्नं जातम्-उत्पन्नं इस अर्थ की ही भाषा भी जैन विद्वान की बनाई हुई लिखी थी जिनका नाम सुप्रसिद्ध पं० पन्नालाल जी बाकलीवाल है उसी को हम फिर लिखते हैं—(यैः) जिनके द्वारा (त्रैलोक्यं) तीन लोक (निष्पन्नं) उत्पन्न हुए हैं। देखो पञ्चास्तिकाय श्लोक ५ पृष्ठ १४। जैन विद्वानों की जहाँ व्याकरण की यह अवस्था है वहां साहित्यका भी एक नमूना देख लें। मैं ने उत्तर पुराण के प्रमाण से यह लिखा था कि सगर के साठ हज़ार पुत्रों के आकार में सम्पूर्ण गुणों को ही प्रगट किया था, उस पर आप लिखते हैं कि यहाँ पर उत्प्रेक्षा है। क्या कोई जैन विद्वान यह सिद्ध कर सकता है

कि अभाव भी उत्प्रेक्षा का विधायक होसकता है ? श्रीमान जी, जब कि ग्रन्थकर्ता को 'वेधस्' (विधाता) का कोई ज्ञान ही नहीं था या उसका मान्य देव न था तो उसने किस प्रकार उसकी कल्पना करली। क्या गधे के सींग और वन्ध्या पुत्र के गुणों को भी उत्प्रेक्षा में वर्णित किया जा सकता है ? धन्य हो महाराज ! आर्यसमाज ने इसके अलावा भी पद्मपुराण और जिनवाणी संग्रह से जैन ईश्वर के नाम गिनाये थे। उनमें से केवल एक शब्दका ही अनर्थ करनेका आपने साहस किया है। मैं फिर उन नामोंको लिख देता हूँ—भवान्तकः (भव नाम संसार की प्रलय करने वाला), विश्वभृद् (संसार का भरण पोषण करने वाला), विश्वसृट् (संसार को रचने वाला), और भी इसी प्रकार के अनेक नाम हैं। आप लिखते हैं विश्वसृट् अर्थात् संसार का पालन करने वाला। प्रथम तो यह अर्थ ही अशुद्ध, दूसरे विश्वभृद् आदि नाम पूर्व आ चुके हैं, इसलिये इसके मानने में पुनरुक्त दोष। "तुष्यन्तु दुर्जनः इति न्यायेन" यह मान भी लें कि यह अर्थ ठीक है तो भी आपने ईश्वर को संसार का पालन करने वाला तो मान ही लिया। जब आपका ईश्वर संसार का पालन कर सकता है तो आर्यसमाजके ईश्वर से ही आपको क्यों चिढ़ है। अब जिन दोषाभासों का वर्णन आपने किया है वे सब आप के ईश्वर पर भी आरोपित हो गये। आप लिखते हैं कि जैन शास्त्र जगत को समुदाय दृष्टि से अनादि और अनन्त बतलाते हैं। श्रीमान् जी, अगर आपने समुदाय शब्द का अर्थ जान लिया

होता तो ऐसा लिखने का साहस कभी न करते। संसार में जिस मनुष्य के आँखें हैं वह प्रत्यक्ष देखता है कि संसार की प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है और नष्ट होजाती है; यथा मनुष्य वृक्ष, पशु, पक्षी आदि २। तब आपका इनको नित्य बतलाना आपके नित्यानित्य के शब्द ज्ञान को प्रकट करता है। यदि जैन शास्त्रों में जिस प्रकार और २ सब बातें उलटी हैं इसी प्रकार यदि नित्य के अर्थ अनित्य के हैं तो हमें कोई आपत्ति नहीं। इसलिये आप 'नित्य' के और 'अनित्य' के लक्षण करके आगे बढ़ें तो ठीक हो। जबकि मैं पञ्चास्तिकाय, तत्वार्थसार, राजवार्तिक, श्लोक वार्तिक आदि जैन शास्त्रों से सिद्ध कर चुका हूं कि ये तीनों लोक परमाणुओंसे उत्पन्न हुए हैं तो फिर नित्य कैसे हैं यह बतलावें। जहाँ जैन शास्त्र सृष्टि की उत्पत्ति बतलाते हैं वहां प्रलय भी लिखते हैं। जिसके मैं अनेक प्रमाण दे चुका हूँ। उन प्रमाणों को न छू कर आपने अबकी बार इतना लिखा है कि "केवल जम्बुद्वीपान्तर्गत सात क्षेत्रों में से भरत ऐरावत क्षेत्र के अन्तर्गत आर्यावर्त खण्ड के ऊपर की किञ्चित् मात्र भूमि भूकम्प जल बाढ़ आदि कारणों से कुछ समय के लिये मनुष्य आदि प्राणियों के रहने के अयोग्य हो जाती है"। श्रीमान् जी, श्री धरसेनाचार्य विरचित विश्वलोचन कोष में जम्बुद्वीप का अर्थ भारत अर्थात् भारतवर्ष किया है। जब जैनाचार्य ही इस प्रकार का अर्थ करते हैं तो इससे सिद्ध है कि जम्बुद्वीप ही भारतवर्ष है। तथापि हम इस विषयान्तर पर

विवाद न करके आपकी ही बात मान लेते हैं। यह तो पहिले सिद्ध कर चुके कि जैन सिद्धान्तानुसार ४००० मील व्यासार्द्ध तक पृथ्वी नीचे अर्थात् गहराई तक नष्ट हो जाती है। इसको आपने स्वीकार कर ही लिया, अब विस्तार का विवाद रह जाता है। सो आपने उसके लिये "किञ्चित् मात्र" शब्द प्रयोग किया है। सो जैन शास्त्र में "किञ्चित् मात्र" शब्द का अर्थ कै करोड़ मील का है, इसको आपही अपनी लेखनी से लिखने की कृपा करें तो अच्छा है। श्रीमान् जी वास्तव में तो आपने अपने ग्रन्थों को छपवाकर बड़ी भारी भूल की। उसी भूल का यह परिणाम है कि आज आप ऐसे शब्द लिखकर संसार को धोके में नहीं डाल सकते हो। बस जब इस सृष्टि की प्रलय और उत्पत्ति जैन शास्त्रों से ही सिद्ध है तो अन्य प्रमाणों की आवश्यकता ही क्या? आगे आपने लिखा है कि (१) कार्यत्व हेतु "सशरीरी और असर्वज्ञ कर्ता में रहता है"। उत्तर दिये जाने पर भी आप उन्हीं प्रश्नों को बारबार दोहराते रहते हैं। कार्यत्व हेतु सशरीर कर्ता में रहता है इसका उत्तर मैं जीवात्मा का उदाहरण देकर दे चुका हूँ। आत्मा किसी भी शरीर से अपने शरीर में क्रिया नहीं करता। रहगया सर्वज्ञ का प्रश्न? यह लिख कर तो आर्यसमाज की विजय दुन्दुभी बजवादी और तीर्थंकरों की सर्वज्ञता पर शास्त्रार्थ होने से पहिले ही नत मस्तक होकर आर्यसमाजको शरण लेली, क्योंकि आपके तीर्थंकर उपदेश आदि करते थे। (२) "क्रिया बिना कर्ता के नहीं

होती", इसमें आपने व्यभिचार बतलाया है जिसका उत्तर मैं प्रथम पत्र में ही दे चुका था कि पक्षैक देश में व्यभिचार बतलाना न्याय की मर्यादा के विरुद्ध है। ऐसा होने पर केवलान्वयी और केवल व्यतिरेकी अनुमान ही सिद्ध न हो सकेंगे तथा यह हेतु साध्यतम व सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास भी हैं। (३) "ज्ञानपूर्वक क्रिया की व्याप्ति नहीं है जैसे अनावृष्टि अतिवृष्टि उल्कापात आदि" यह भी साध्यतम हेत्वाभास है, क्योंकि इसमें ज्ञान का अभाव सिद्ध ही नहीं हुआ। (४) आप लिखतेहैं कि "बुद्धि एक भिन्न पदार्थ है, यही वैशेषिक दर्शन का मन्तव्य है।" श्रीमान् जी! प्रतीत होता है कि कहीं अंधेरी गुफा में जाकर इन दर्शनों के दर्शन करते हैं। अब आप प्रकाश में वैशेषिक दर्शनको पढ़कर देखने की कृपा करें। जहां पूर्व आपके व्याकरण और साहित्य की पोल खुल गई वहां आपके दर्शन ज्ञान का भी परिचय मिल गया। यही कारण है कि आप बिना ही समझे न्यायदर्शन में से हेत्वाभास और निग्रह स्थानों के नाम लिख २ भेज देते हैं। (५) "ज्ञान ईश्वर में समवाय सम्बन्ध से रहता है तो वह समवाय भी एक भिन्न पदार्थ है फिर वह ऐसा नियम क्यों करता है कि वह ज्ञान परमात्मामें ही रहे आकाशमें न रहे"। श्रीमान् जी आपको किसने बहका दिया कि समवाय सम्बन्ध भी नियम करने वाला होता है। अग्नि में दाह शक्ति समवाय सम्बन्ध से रहती है—आपके कथनानुसार वह जल में भी हो होगी। बलिहारी है आपकी इस फिलासफी की। (६) प्रश्न—परमा-

णुओंके भिन्न २ रहने से मुक्तात्मा भोग योग्य शरीर कैसे बनाता है ? उत्तर—जैसे आपके यहां बनाता है। (७) प्रश्न—प्रलय-कालमें जीवात्मा कर्म लिङ्ग सहित होती है या रहित ? उत्तर—जैसे आपके यहां होती है। (८) प्रश्न जिसमें संयोग वियोग की शक्ति विद्यमान है उसी में नियामक शक्ति भी है ? उत्तर—आपकी लेखनी की मिसाल देकर पहिले लिख चुका हूँ। (८) प्रश्न—कर्म का लक्षण क्या है ? उत्तर—"संयोग भिन्नत्वे सति संयोगासमवायि कारणम् कर्म" (९) प्रश्न—फल का लक्षण ? उत्तर—अपने किये हुये शुभाशुभ कर्मों का बुद्धिमान् सत्ता की व्यवस्था द्वारा विवश होकर जीवात्माको जो सुख दुःख भोगने पड़ते हैं। (१०) प्रश्न—ईश्वर जगतकर्ता नहीं जगत अनादि होने से। उत्तर—ईश्वर जगतकर्ता है जगत के अनादि न होने से जो कि सिद्ध किया जाचुका है (११) प्रश्न—ईश्वर जगत कर्ता नहीं आधुनिक विज्ञानके प्रतिकूल होनेसे। उत्तर—ईश्वर जगत कर्ता है तत्वज्ञान के अनुकूल होने से। (१२) प्रश्न—ईश्वर जगत् कर्ता नहीं हमारे द्वारा ग्रहण करने योग्य प्रमाण न होने से। उत्तर—ईश्वर जगत् कर्ता है हमारे द्वारा ग्रहण योग्य प्रमाणों के होने से। (१३) प्रश्न—ईश्वर जगत कर्ता नहीं नित्य सर्वव्यापक होने से। उत्तर—ईश्वर जगत् कर्ता है आपके काल की तरह नित्य और सर्व व्यापक होने से (१४) प्रश्न—ईश्वर जगत् कर्ता नहीं इच्छा रहित होने से। उत्तर—ईश्वर जगत् कर्ता है इच्छा होने से तीर्थङ्करों की तरह। (१५) प्रश्न—ईश्वर

सृष्टि कर्ता नहीं, कार्य कारण के विरोध होने से। उत्तर—ईश्वर सृष्टिकर्ता है कार्य कारण की व्याप्ति होने से। प्रमाण में जैनियों की अमैथुनो सृष्टिके समान विरोध न होने से। (१६) सुख दुःख की व्याप्ति कर्मफलदाता से नहीं क्योंकि यह आश्रयासिद्ध है। उत्तर—आपका यह लिखना आश्रयासिद्ध की अनभिज्ञता का प्रकाशक है। (१७) ईश्वर का सर्वशक्ति सम्पन्न होना अभी असिद्ध है। उत्तर—ईश्वर का सर्वशक्ति सम्पन्न होना सिद्ध हो चुका है। (१८) पदार्थ नित्य हैं या अनित्य? उत्तर—कार्यरूप पदार्थ अनित्य, बाकी नित्य हैं। (१९) ईश्वर नियमाधीन होने से पराधीन है। उत्तर—ईश्वर किसी के आधीन नहीं है। आपने पराधीन के लक्षण को नहीं समझा (२०) नियम का क्या लक्षण है—यह ईश्वर में रहता है या प्रकृति में? उत्तर—ज्ञानपूर्वक व्यवस्था नियम है और ज्ञानी में रहता है (२१) सांख्य दर्शन में ईश्वर का खण्डन किया है। उत्तर—आपका यह लिखना आपकी अज्ञानता प्रगट करता है। आपके दिये हुए सूत्र से पूर्व सूत्र नव्वे (९०) में योगियों के प्रत्यक्ष का विषय बतलाया है। अतः वहाँ मानस प्रत्यक्ष न मानने में दोष दिखलाया है न कि ईश्वर की असिद्धि की है। (२२) ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में लिखा है कि जिस समय जगत पैदा हुआ उस समय अव्यक्त प्रधान नहीं था। उत्तर—इससे आपका क्या प्रयोजन? वहां तो स्पष्ट ही ईश्वर द्वारा सृष्टि और प्रलय होने का वर्णन है; यथा इसी स्थान पर लिखा है "यदिदं सकलं

जगत्दृश्यते तत्परमेश्वरेणैव सम्यक् रचयित्वा संरक्ष्यप्रलयावस्ते च वियोज्यविनाश्यते। (२३) ऋग्वेद में ईश्वर के सृष्टि ज्ञान की अनभिज्ञता दिखलाई है ऋग्वेद मंत्र १०,१२९,१,६-७। उत्तर—जब आपके व्याकरण साहित्य और न्याय की यह अवस्था है तो वेद विषय में आपकी कितनी पहुँच है यह सिद्ध ही है। फिर भी हम आपकी भ्रान्ति मिटाने के लिये इसका स्पष्ट अर्थ करते हैं—(इयं विसृष्टिः) जिस परमेश्वर के निमित्त कारण से यह जगत उत्पन्न हुआ है (सः एव दधे) वही इसको धारण करता है (योऽस्य सर्वस्याध्यक्षः) यह इस सबका अध्यक्ष स्वामी है (परमे व्योमन्) वह आत्मा और प्रकृत्यादि में व्यापक है (सोऽध्यक्षः) वह सर्व नियन्ता है (अङ्गवेद) हे जीव तू उसको जान (यदि न) यदि उस ईश्वरको कोई न जाने (या) निश्चयार्थे (न) सुख को प्राप्त नहीं हो सकता। (२४) शतपथ में लोक को नित्य बतलाया है। उत्तर—वहां प्रवाह से नित्यता बतलाई है न कि स्वरूप से। यह हैं आपके बेतुके तथा निराधार प्रश्न जिनका सम्बन्ध विषय से कुछ भी नहीं था अपितु केवल कुछ लिखना है इस उद्देश्य से ही लिखे गये थे अथवा प्रश्नों की संख्या वृद्धि के लिये इनका प्रयोग किया गया था। इसी प्रकार की व्यर्थ बातों से १६ पृष्ठ भर कर न मालूम क्यों अपना समय व्यर्थ खोया, जिसके लिये हमें भी आपका अनुसरण करना पड़ा। आपका कर्तव्य तो यह था कि अपने जड़ कालादि को सृष्टि कर्ता सिद्ध करते और ईश्वर के विषय में दिये हुए हमारे

प्रमाणों का तथा युक्तियों का खण्डन करते । हमारी आपसे पुनः प्रार्थना है कि आप प्रकृत विषय पर ही लेख लिखने की कृपा करें।

ह० सोहनलाल आर्य, मंत्री आर्यसमाज, पानीपत।

जैनसमाज का उत्तरपत्र

[तारीख ७-११-३३—समय ११-५५ दोपहर]

महाशय जी, यह शास्त्रार्थ लिखित है न कि मौखिक। अतः आर्यसमाज को यह न समझ लेना चाहिये कि उत्तर चाहे भी जैसे देदिया, लिखने से कुछ भी नहीं बनता, क्योंकि हमारे पास आपके उत्तरों का रिकार्ड मौजूद है। कार्यत्व हेतु में साध्यविकल दृष्टान्तता, विरुद्धता और अनैकान्तिकता, यह तीन दोष दिये जा चुके हैं जिनसे उसकी असारता स्पष्ट है। हमने किसी भी ऐसे पदार्थ में व्यभिचार नहीं दिया जिसका अन्तर्भाव पक्ष में किया जा सके। जङ्गल की आग से पैदा हुई राख और गिरे हुए बीज से पैदा हुए वृक्ष को स्वामी दयानन्द जी ने ही केवल जड़के निमित्त से हुआ माना है। ईश्वर ज्ञानके सम्बन्ध में भी आर्य-समाज कुछ भी निराकरण नहीं कर सका है, अतः इस अनुमान के सम्पूर्ण दोष तदवस्थ हैं। ज्ञान पूर्वक क्रिया का अभाव प्रमाणित करने के लिये अतिवृष्टि, अनावृष्टि, उल्कापात आदि

बातें उपस्थित की थीं। इसपर आर्यसमाजके उत्तर ने तो कमाल ही कर दिया है। अगर यह बातें भी ईश्वर समझकर करता है या उसको समझदारी के ऐसे नमूने हैं तब तो समझदारी की हद हो गई। फिर तो उड़ते हुए हवाई जहाज़ों का नष्ट भ्रष्ट होजाना, समुद्री जहाज़ों का डूब जाना भी ईश्वर की समझदारी का ही कार्य कहा जायगा। रोहतक, आगरा, अम्बाला आदि में जल की बाढ़ भी परमात्मा की समझदारी का ही परिणाम कहा जा सकता है। इसी प्रकार कसाई र ानों में होने वाला पशुवध भी ईश्वर की बुद्धिमत्ता का कार्य ठहरेगा। महाशय जी ज़रा सोचकर लिखा कीजिये और लिखने से पहिले कम से कम आर्य सिद्धान्तों को समझने वालों से सलाह कर लिया करें। अस्तु, जगतमें अव्यवस्था देखकर कौन बुद्धिमान कह सकता है कि जगत में सब क्रियायें ज्ञानपूर्वक ही होती हैं। बुद्धि आत्मा से भिन्न एक स्वतन्त्र पदार्थ है ऐसा हमने लिखा था। इस पर आपने हमारे ऊपर वैशेषिक दर्शन के दर्शन अन्धेरे में करने की बात लिख डाली। मालूम होता है कि वैशेषिक दर्शन की दुहाई देकर भी आर्यसमाज अपने दर्शन शास्त्र के अध्ययन से बिलकुल कोरी है। वैशेषिक दर्शन के "पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि" (देखो १-१-५), "रूपरसगंधस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोग विभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः" (देखो १-१-६) इन सूत्रों से आत्मा और बुद्धि का स्वतंत्र

पदार्थ होना सिद्ध है। अतः हमें आपके दर्शन विषयक ज्ञान पर हंसी आती है। आप लिखते हैं कि समवाय सम्बन्ध नियामक नहीं है तो फिर कहिए कि आप अपने परमात्मा को सर्वज्ञ या बुद्धिमान कैसे प्रमाणित करते हैं। वैशेषिक-कार के मत से आत्मा और बुद्धि का पृथक पदार्थ होना ऊपर लिखा जा चुका है। अतः भिन्न पदार्थ होने पर भी बुद्धि परमात्मा में ही वास करती है आकाशादिक में नहीं, इसका आर्यसमाज क्या उत्तर रखता है ? हमारी फ़िलासफ़ी की बलिहारी देने मात्र से काम न चल सकेगा। अतः बुद्धि का नियामक न होने से आर्यसमाज का परमात्मा बुद्धिमान प्रमाणित नहीं होता और जब परमात्मा बुद्धिमान ही प्रमाणित नहीं होता फिर उसको बुद्धिमत्ता के आधार से जगत का कर्ता प्रमाणित करना बन्ध्या के पुत्र से कार्य कराने की आशा के समान है और जब वह संसार का रचयिता ही नहीं तब प्रलय कर्ता भी नहीं हो सकता। प्रलय के समर्थन में आर्यसमाज एक भी अनुमान नहीं दे सका। जैन शास्त्रों का प्रमाण देकर आर्यसमाज को प्रलय को सिद्ध करना दीपक से अंधकार की रक्षा करने के समान हास्यास्पद है। भला यह असम्भव बात कि चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष तक जगत के सम्पूर्ण परमाणु निष्क्रिय पड़े रहते हैं, जैन शास्त्रों से कैसे सिद्ध हो सकती है। हम कई बार लिख चुके हैं कि आर्यसमाज की सृष्टि और प्रलय का समर्थन जैन शास्त्र से नहीं होता फिर भी

समाज उन्हीं बातों को दोहराया करता है। मालूम होता है कि उसके घरेलू स्टाक में प्रमाणों का दिवाला निकल चुका है; यदि प्रमाण होते तो उनको उपस्थित करता। पंचास्तिकाय के ५ वें श्लोक को हम अपने पहिले पत्र में उद्धृत करके यह बतला चुके हैं कि वहां "यैः" शब्द का सम्बन्ध परमाणुओं से बिल्कुल नहीं है किंतु नित्य अनादि निधन जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश, इन पांच द्रव्यों से है। अतः सृष्टि के समर्थन में जैन शास्त्रों का सहारा लेना अनुचित है। आपने विश्वलोचन कोष का प्रमाण देकर भरत क्षेत्र को ही जम्बुद्वीप सिद्ध करने की कोशिश की है, किन्तु यह अनुचित है। भारतवर्ष, यूरोप या एशिया के किसी प्रदेश को भारतवर्ष, यूरोप या एशिया कहने से वह देश उतना ही बड़ा नहीं समझा जा सकता। विश्वलोचन-कार ने जम्बुद्वीप का एक हिस्सा होने के कारण ही भारत को जम्बुद्वीप संज्ञा दे दी है। जम्बुद्वीप के कुछ भाग की पृथ्वी गहराई में नष्ट हो जाने से, आर्यसमाज यह कैसे प्रमाणित करता है कि संपूर्ण मध्यलोक, ऊर्द्धलोक और चन्द्र सूर्य आदि भी उसमें शामिल हो जाते हैं अर्थात् चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष तक के लिये निष्क्रिय परमाणु रूप हो जाते हैं। जैन तीर्थ-ङ्करों के कुछ नामों को लेकर आपने ईश्वर जगतकर्ता सिद्ध करने की कोशिश की है। "तुष्यन्तु दुर्जना" आपकी ही इस भद्र नीति के अनुसार इन नामों का वही मतलब मान लिया जाय जो आर्यसमाज बतला रहा है तो इससे आर्यसमाज का

परमात्मा जगत कर्ता कैसे सिद्ध किया जा सकता है ? जबकि जैन तीर्थङ्कर सशरीर और जीवन मुक्त अवस्था में होते हैं तब आर्यसमाज का परमात्मा सर्वदा अशरीर और सर्वव्यापक माना जाता है। दूसरी बात यह भी है कि उन नामों के अर्थ वे नहीं हैं जो आप समझे हैं। भवान्तक शब्द का अर्थ भव यानी जन्ममरण के चक्कर के लिये, अन्तक यानी काल के समान है। इसी प्रकार विश्वभृत का अर्थ सन्मार्ग के उपदेश द्वारा विश्व के जीवों का पालन करने वाला होता है। तथा इसमें वैदिक साहित्य के प्रमाण भी दिये जा चुके हैं। अतः इन नामों के आधार पर भी ईश्वर को जगत का कर्ता सिद्ध नहीं किया जा सकता। सगर के साठ हज़ार पुत्रों के सम्बन्ध में हम पहिले लिख चुके हैं कि यह केवल उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। उत्प्रेक्षा भाव-मूलक एवं अभावमूलक दोनों प्रकार की होती है, अतः यहां अभावमूलक होना कोई दोष की बात नहीं है। हमने पूछा था प्रलय काल में समस्त परमाणुओं के भिन्न भिन्न होने से मुक्त आत्मा भोग योग्य शरीर कैसे बनाता है, इस पर आपका यह लिखना कि जैसे आपके यहाँ बनाता है, ठीक नहीं। हमारे यहाँ न समस्त परमाणुओं को भिन्न भिन्न अवस्था हैं और न मुक्त आत्माओं का शरीर बनाना ही माना गया है। अतः आपका समाधान केवल धूल में लट्ठ मारने के समान है। प्रलय में आत्मा कर्म और लिङ्ग शरीर से सहित रहता है या रहित, इस प्रश्न के सम्बन्ध में भी आपका समाधान व्यर्थ है क्योंकि हम समस्त

परमाणुओंकी भिन्न २ अवस्थारूप प्रलय नहीं मानते। अतः हमारा प्रश्न तदवस्थ है। जिस कर्म का लक्षण आर्यसमाज ने किया है वह कर्म यानी क्रिया जड़ पदार्थ में भी रहती है किन्तु उनको उसका फल नहीं मिलता। महाशय जो कर्म का यह लक्षण लिखकर तो आपने अपने न्याय ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है। फल के लक्षण में भी बुद्धिमान का सम्मिश्रण करना ठीक नहीं, क्योंकि अभी यह साध्य है। दूसरे इस सुख दुख भोग में कर्म का लक्षण भी रहता है, क्योंकि यह संयोग स्वरूप न होकर संयोग का असमवाय कारण है। अब कहिये कि जब कर्म और फल में भिन्नता ही नहीं तब इससे ही जीव स्वतंत्र और परतंत्र कैसे ठहरता है और ऐसी अवस्था में परमात्मा की क्या आवश्यकता रहती है? आपने जगत को सादि सिद्ध नहीं किया है और करते भी कैसे, क्योंकि यह शतपथ ब्राह्मणके प्रतिकूल है—"अक्षितावैलोका" (१२—३—४—११) अर्थात् लोक अनादि है। अतः अनादि होने से जगत के कर्ता का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। यहां यह कहना कि यह प्रवाह रूपसे है निराधर है। यदि कोई प्रमाण हो तो आर्यसमाज उपस्थित करे। ईश्वर का जगतकर्ता होना विज्ञान (साईंस) के भी प्रतिकूलहै, इसका आप ने कोई उत्तर नहीं दिया। आपका यह लिखना कि हम पृथ्वी के परिमाण को ग्रहण करते हैं, असिद्ध है। अतः ग्रहण योग्य परिमाण न होने से इसका कर्ता ईश्वर नहीं होसकता। हम कई बार लिख चुके हैं कि जैन दर्शन काल को व्यापक नहीं मानता, अतः उस

के आधार से उसी की तरह ईश्वर को सर्व व्यापक और कर्ता सिद्ध करना अपनी अज्ञानता का परिचय देना है। ईश्वर जगत का कर्ता नहीं "इच्छारहित होने से", हमारे इस अनुमान का आज तक कोई उत्तर नहीं दिया। ईश्वर को नियमाधीन मानकर भी किसी के आधीन न मानना यह तो व्याघात है। दूसरे यदि ज्ञान पूर्वक व्यवस्था का नाम नियम है तो यह आर्यसमाज की सृष्टि के सम्बन्ध में घटित नहीं होता, क्योंकि सृष्टि का कोई ऐसा नियम नहीं है जिससे पहिले ज्ञान पूर्वक व्यवस्था बन सके और यदि ऐसा मानोगे तो परम्परा से सृष्टि के अनादि होने में बाधा आवेगी, अतः इससे भी ईश्वर जगतकर्ता सिद्ध नहीं होता।

"ईश्वर जगतकर्ता है" यहां तीन बातों का सिद्ध होना आवश्यक था—एक ईश्वर का, दूसरे जगत के उपादान कारण का और तीसरे उसके द्वारा ईश्वर के जगत निर्माण करने का। हमने इन तीनों बातों के निराकरण में आपके ही माननीय शास्त्रों के प्रमाण दिये थे। जगत् के उत्पन्न होने से पहिले अव्यक्त प्रधान नहीं था, इससे हमने जगत के उपादान का अभाव सिद्ध किया है और शथपथ के पूर्वोक्त प्रमाण के आधार पर लोक को अविनाशी। ऋग्वेद के प्रमाणसे जिसको आप जगत का रचयिता मानते हैं वह जगत रचना के सम्बन्ध में स्वयं अज्ञानता प्रगट करता है। आपका उस 'अ' का अर्थ बिलकुल मिथ्या है। आपने निमित्त कारण, आत्मा और प्रकृति में व्यापक, परमे-

श्वर, और सुख को प्राप्त नहीं होता, आदि अर्थ इस मंत्र के किन शब्दों के आधार पर किये हैं? महाशय जो आर्यसमाज के ही माननीय विद्वान पं० नरदेव शास्त्री आदि ने उक्त मंत्र का अर्थ हमारे ही जैसा किया है। इससे स्पष्ट है कि जगत रचना तो दूर रही, आपके परमात्मा को तो उसका पता भी नहीं है। जहां आपकी अन्य बातें विरोध युक्त हैं वहीं सृष्टि रचना बाद भी। क्योंकि एक जगह आकाश से उत्पत्ति लिखी है तो दूसरी जगह प्रकृति से, तीसरी जगह जलसे, आदि आदि। ज़रा शथ-पथ ब्राह्मण १४-४-२ को भी देखलें—वहां लिखाहै कि परमात्मा स्वयं कैसे स्त्री, पुरुष, गाय, बैल, घोड़ी, घोड़ा, गधा, गधी इत्यादि बनाता गया और फिर स्वयं ही अपना नाम सृष्टि रख लिया। इन सब बातों के अतिरिक्त वैदिक साहित्य आपके परमात्मा को अज्ञानी, गर्भ में रहने वाला, तपश्चरण कर्ता, पापों का नाशक, भयभीत, पुत्रवान और मैथुनकर्ता भी प्रमाणित करता है। अज्ञानी के लिये देखो यजु० अ० ५ मं० ६ दयानन्द भाष्य। भययुक्त के लिये यजु० अ० ७ मं० ३७ द० भा०। और बृ० आ० १—४—२। गर्भ में रहने वाला देखो छा० उ० ३—१९—१, यजु० ३—१९, अथर्ववेद १०—८—१३, प्र० उ० २—७, ए० उ० २—१—१। तपश्चरण के लिये देखो बृ० आ० १—२, ऐतरेय १—१, तैत० २—६, गो० ब्रा० १—१, पुरुष सुक्त का ऋग्वेद १०—९०॥ पापों का नाशक के लिये बृ० आ० १—४—१। पुत्रवान के लिये मु० १—१ और मैथुन कर्ता के

लिये शथपथ ब्राह्मण को देखें । ये वे प्रमाण हैं जिनको आर्य-समाज प्रमाण मानता है । अतः यह भी सिद्ध है कि आपकी मान्यता के अनुसार ही ईश्वर सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान सिद्ध नहीं होता, फिर उसको इसही आधार से जगतकर्ता कैसे सिद्ध किया जा सकता है ? ईश्वर के साथ जगत का अन्वय व्यतिरेक नहीं मिलता, यह हम पहिले ही प्रमाणित कर चुके हैं। आर्यसमाज से एक भूल और हुई है और वह नरक के सम्बन्ध है । आर्यसमाज कहता है कि नरक में असुरकुमार कर्मों का फल देते हैं, यह उसकी भूल है । जैन सिद्धान्त ऐसा नहीं बतलाता । दो आदमी लड़ते हैं, इनमें बलवान निर्बल को मारता है, कुछ आदमी आपस में लड़ाया भी करते हैं, शिकारी जानवर पर आक्रमण करता है, तो क्या बलवान, लड़ाने वाला और शिकारी दूसरे जीवों को कर्मों का फल देने को नियुक्त हुए हैं ? यही बात नरक में लागू है और यह एक वस्तु स्थिति है जिसका प्रतिपादन जैन शास्त्रकारों ने किया है । यदि यह कर्मफल के हेतु होती तो चौथे नरक से अगाड़ी भी ऐसी व्यवस्था मिलती, क्यों कि वहाँ भी तो कर्मों का फल भोगना पड़ता है, किन्तु वहाँ असुर कुमार नहीं जाते । अतः इससे जैन कर्मवाद पर आपत्ति उपस्थित करना मिथ्या है । ऐसी ही भूल स्वर्ग के संबंध में है । उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आर्यसमाज की प्रलय, सृष्टि, परमात्मा का बुद्धिमान होना अप्रमाणित है और जगत के उपादान कारण का अभाव, ईश्वर में सर्वव्यापकता, सर्वशक्ति-

मत्ता का अभाव आदि बातें प्रमाणित हैं। जगत कर्ता के समर्थन में दिये गये अनुमानों का खण्डन भी किया जा चुका है; साथ ही साथ जगतकर्ता खण्डन के अनुमानों का निराकरण आर्यसमाज से नहीं हो सका है, इससे सिद्ध है कि ईश्वर जगतकर्ता नहीं।

ह० मुनिसुव्रतदास जैन,
प्रतिनिधि जैन समाज, पानीपत।

---

[६]

आर्यसमाज का पत्र

[तारीख़ ७-११-३३—समय ४ बजे सायंकाल]

वैदिक ईश्वर

न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते, न तत्समश्चाधिकश्च दृश्यते ॥ परास्य शक्तिर्विवधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च ॥ श्वे० ३,६।८। अर्थात् न उसका शरीर है न इन्द्रियें हैं। न उसके कोई समान है और न अधिक है। उसकी शक्ति सबसे ऊंची है तथा अनेक प्रकार की है। वह शक्ति ज्ञान एवं बल की क्रिया है जो उसमें स्वाभाविकी है। भाव यह है कि ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति दो ही मुख्य शक्तियें हैं, अन्य सब शक्तियाँ इन्हीं का आवान्तर भेद हैं। ये दोना उसमें स्वभाव से विद्यमान हैं, अर्थात् किसी निमित्त से नहीं। वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है। सर्वज्ञ है। एवं कर्म उसके नियम के आश्रित हैं। तथा एक प्रकार को उसकी क्रिया होते हुए भी अनन्त प्रकार से प्रकट हो रही है। वेदान्त दर्शन अध्याय दो में भी इसका विस्तार पूर्वक वर्णन है। तथा वह अशरीरी तथा

इन्द्रियों के बिना जीवात्मा के समान सृष्टि में गति देता है। यह भी वहाँ विस्तारपूर्वक वर्णन है। अथवा—न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमाविद्युतो भान्तिकुतोऽयमग्निः। तमेव भान्त-मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। मुण्डक उप० २।२।१०। अर्थात् न वहाँ सूर्य चमकता है और न चन्द्र तारे और न ये बिजलियां चमकती हैं, फिर अग्नि की क्या शक्ति है कि वहां प्रकाश करे। ये सम्पूर्ण संसार की चमकदार चीज़ें उसी के प्रकाश से चमकती हैं, अर्थात् जिस प्रकार चाँद सूर्य्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है परन्तु साधारण मनुष्य इस बात को नहीं जानते, इसी प्रकार सूर्य्य आदि में भी उसी का प्रकाश है परन्तु अल्पज्ञ पुरुष इस बात को नहीं जानते। "उसी के हुक्म से है रात दिन की ये कमी बेशी। उसी के हुक्म का तावे फ़लक पर हर सितारा है—यस्यामृतानि वीर्या न राधः पर्येतवे। ज्योतिर्न विश्वमभ्यास्तिदक्षिणा॥ ऋ० ८।२४।२१ अर्थात् जिसकी शक्तियें अपरिमित (बे अन्दाज़) हैं, जिसकी दांत से कोई बढ़ नहीं सकता। जिसकी दक्षिणा ज्योति की तरह सबसे ऊपर है। अक-बर ने क्या ही अच्छा कहा है, यथा—उसी के इन्तज़ामे हुक्म से मौसम बदलते हैं। वही है वक्त पर जिसने हवाओं को उभारा है। "वनेषु अन्तरिक्षं ततान" ऋग्वेद ५। ८५।२ उसने जंगलों के ऊपर अन्तरिक्ष को फैलाया है ताकि अन्त-रिक्ष से उन्हें जीवन मिले। उसने गौ में दूध दिया है (वक्ष्या

है)। "य आत्मदा बलदा" ऋग्वेद १०।१२१।२। जो प्राण और बल के देने वाला है। तथा च, य इमञ्च लोकं परञ्च लोकं सर्वाणि च भूतानि अन्तरोय मयति। वृहदारण्यक० उप० ३।७।१। जो सम्पूर्ण संसार के अन्दर रह कर उसको नियम में चलाता है। तथा च—एको देवः सर्व भूतेषुगूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलोनिर्गुणश्च। श्वेता० ६।११। अर्थात् वह देव एक है, सब भूतों में व्यापक है, कर्मफल प्रदाता है, सबका आधार है, साक्षी है, सर्वज्ञ है, निर्गुण है, एक हैं, सङ्ग दोष से रहित है, सृष्टिकर्ता है।

यह है वैदिक ईश्वर का स्वरूप जो आपके सम्मुख हमने संक्षेप से रख दिया है; यदि आप इसको ध्यान से देखेंगे तो आपके काल एवं धर्म और अधर्म द्रव्यों में केवल ज्ञान का ही अन्तर पावेंगे। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि आप का नित्य काल तथा धर्म और अधर्म द्रव्य ईश्वर की तीन शक्तियों का नाम है अर्थात् आपने ईश्वर को तीन शक्तियों को माना है और सर्वज्ञत्व शक्ति आपने भूल से मुक्त जीव में मान ली है। आपके अब तक के लेखों से यह प्रत्यक्ष है कि आपको वैदिक सिद्धान्तों के विषय में बिलकुल भ्रम है। मैं आपको यह बतला देना चाहता हूँ कि आर्यसमाज ऐसा नहीं मानता कि परमाणु किसी समय भी क्रिया रहित रहते हैं। परन्तु परमाणु आप ही की तरह निमित्त कारण से हमेशा सक्रिय

रहते हैं यह मानता है। भेद केवल इतना है कि आप निमित्त कारण काल को बतलाते हैं और हम ईश्वर को। यदि आपने प्रलय और सृष्टि के मेरे उत्तर पर विचार किया होता तो आप कभी भी इतने पृष्ठ व्यर्थ लिखने का कष्ट न करते। परन्तु दुःख तो इस बात का है कि न तो आपको हमारे सिद्धान्तों का ज्ञान है और न अपने शास्त्रों का। इसी लिए आपने आकाश को परिणामी लिख दिया था तथा पुद्गल को और आत्मा को सक्रिय। अब आपने लिखा है कि ये कभी भी निष्क्रिय नहीं होते। श्रीमान् जी क्षमा करना जब आपको अपने सिद्धान्तों का ही इतना ज्ञान है तो हमारे दर्शनोंको तो बात ही क्या है। मैं आपको बतला देना चाहता हूँ कि जैन शास्त्र आत्मा का निष्क्रिय होना मानते हैं। तथा अब आपने लिख दिया कि हम काल को सर्वथा नित्य नहीं मानते हैं। बड़ी अच्छी बात है न मानें आपकी इच्छा है, परन्तु काल को नित्य न मानने से न तो आपका यह जगत नित्य रहेगा और न आपकी आत्मा, तथा न सिद्ध और न सिद्ध-शिला। श्रीमान् जी हमतो कार्य रूप सृष्टि को ही अनित्य कहते थे तो आपको क्रोध आता था, अब आपने काल तक को अनित्य कह दिया। यह आपको हो क्या गया है? सम्भवहै इस लेखको दुबारा देखने का कष्ट नहीं करते होंगे। आगे आप लिखते हैं कि चांद सूर्य आदि नियम पूर्वक बने रहते हैं। श्रीमान् जी यह परस्पर विरोध लेख क्यों है। सम्भव है वहां काल न हो, क्यों कि आप काल को व्यापक नहीं मानते। तथा जब आपके शास्त्र

इनकी उत्पत्ति पुकार २ कर कह रहे हैं तो इनके नाश में किसी को क्या सन्देह रह सकता है। सम्भव है किसी आधुनिक विज्ञान वेत्ता ने भविष्यवाणी की हो कि ये हमेशा बने रहेंगे। भगवन् जब पृथ्वी नष्ट हो जावेगी तो इनका नाश तो अवश्यं भावी है। क्योंकि ये सब एक दूसरे की आकर्षण शक्ति से ठहरे हैं। आप कहते हैं सृष्टि अनादि है; श्रीमन ! प्रवाह से अनादि है या स्वरूपसे। यदि प्रवाह से अनादि है तब तो हम भी मानते हैं और यदि स्वरूप से है तो जैन सिद्धान्त की हानि है। नित्य की तीसरी कोई परिभाषा नहीं है। एक जैन विद्वान् ने इसको परस्पर नित्य कहा था जिसका कुछ भी अभिप्राय प्रगट नहीं होता। वास्तव में जैनाचार्य भी इसको प्रवाह से ही अनादि मानते थे, तभी तो परमाणु आदि की व्यवस्था लिखी है अन्यथा जब यह स्थूल जगत परमाणु रूप यदि कभी होता ही नहीं है तो परमाणुओं की कल्पना ही कैसे होती। अतः जैन शास्त्रों की प्रलय और वैदिक प्रलय में केवल ध्यान से न विचार करने के कारण भेद है। वास्तविक नहीं।

कर्मफल

मैं ने लिखा था कि जब तक कोई न्यायाधीश यह न जान ले कि इसने अमुक नियम (क़ानून) के विरुद्ध अमुक कार्य किया है तब तक किसी को उसका फल नहीं मिलता। इस पर तो आपने कुछ भी न लिखा अपितु इसको खटाई में डालने के लिये अप्रासङ्गिक अनेक प्रश्न कर दिये, जिनका

उत्तर दिया जा चुका है। पुनः जैन शास्त्रों के अनेक प्रमाणों से भी मैं ने यह सिद्ध किया था कि कर्म का फल स्वयं कर्म नहीं देते अपितु अन्य कोई चैतन्य शक्ति देती है, परन्तु आपने इसका भी कोई उत्तर नहीं दिया। देते भी कैसे जबकि यह प्रत्यक्ष ही विरुद्ध है। परन्तु अब आपने एक और उलटा मार्ग लिया और वह यह कि शास्त्रों के प्रमाण लिखकर उनके उलटे अर्थ किये हैं। यथा—वेदान्त दर्शन में जहाँ लिखा है कि ईश्वर कर्मफल प्रदाता है, इसका आप अर्थ करते हैं कि कर्म स्वयं फल देते हैं। देखो अ० ३ सू० ३७। "अनेन सर्वगतत्वमायाम शब्दादिभ्यः" जब इस सूत्रसे यह सिद्धकर चुके कि सर्वव्यापक ईश्वर कर्मफल दाता है तो व्यास महर्षि अपनी पुष्टि में जैमिनी मुनि का भी प्रमाण देते हैं, जिसको आपने अपने पत्र में लिखा है। मालूम नहीं इतना अनर्थ करते हुए मन में क्यों नहीं शङ्का उत्पन्न हुई। यही अवस्था अन्य प्रमाणों की है। अस्तु प्रकृत विषय यह है कि क्या कर्म स्वयं फल देते हैं। इसके लिये आपने न तो कोई हेतु दिया और न दृष्टान्त। अतः यह सिद्ध हो गया कि कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते। आपको स्मरण रहे कि कर्म दो प्रकार के हैं—एक तो इष्ट अर्थात् जो उन्नति के साधक हैं, दूसरे अनिष्ट जो उन्नति में बाधक हैं। इन कर्मों के दो ही प्रकार के संस्कार आत्मा पर पड़ते हैं। बस इष्ट को सुरक्षित रखने के लिये सुख और अनिष्ट संस्कारों को धोने के लिये दुःख मिलता है। उसका नाम फल है। अब यह जड़ कर्म

कैसे जान सकता है कि अनिष्ट संस्कारों को कैसे धोया जावेगा और इष्ट संस्कारों की रक्षा कैसे होगी। श्रीमन्! जैसे आप मानते हैं कि जिस प्रकार आम वृक्ष से आम का फल फूट निकलता है उसी प्रकार संस्कार में से फल निकल आता है, यह ग़लत है। क्योंकि आम का फल तो आम के वृक्ष का एक भाग है, परन्तु कर्म का फल कर्म का एक भाग नहीं है। तथा नाहीं संस्कार कर्म का फल है। यदि आपकी तरह ऐसा माना जावे तब तो जैन स्कूलों में तथा पाठशालाओं में किसी भी अध्यापक को वेतन नहीं मिलना चाहिये, क्योंकि पढ़ाने में जो उनकी विद्या-बुद्धि का संस्कार पड़ता है वही फल हो जावेगा। तथाच फल का कर्म उपादान कारण नहीं है, निमित्त कारण है। चोर को जो कारागार मिला है वह कर्म में से उत्पन्न नहीं हुआ है। अपितु चोरी उसका एक निमित्त कारण है। उस कारागार में भेजने वाली कोई अन्य चैतन्य सत्ता है। इसी प्रकार आपके कल्पित स्वर्ग नरक की बात है। वहाँ भी भेजने वाली कोई अन्य बुद्धिमान चैतन्य सत्ता है। याद रहे कि कर्म का अन्त भी फल नहीं है, यदि ऐसा मानोगे तो चोर को चोरी से धन मिला है वह भी फल हो जावेगा। बस कर्म, कर्मफल, संस्कार तथा कर्म के अन्त को न समझने के कारण आप लोगों ने कर्म के फल को देने वाला कर्म को ही मान लिया तथा दृष्टान्त शराब आदि का दे दिया, परन्तु यह विचार न किया कि इससे तो धर्म ही लुप्त हो जावेगा अर्थात् आपके

शास्त्रकारों ने इससे अधिक पाप करने की प्रेरणा करदी। क्योंकि जो मनुष्य प्रथम बार ही नशा करे उसको नशा अधिक हो और यदि वह नित्य अधिक मात्रामें पीने लगे तो नशा अत्यन्त न्यून हो। बस आपने भी यह सिद्ध कर दिया कि जो मनुष्य प्रथम बार पाप करेगा उसको अधिक दुःख, परन्तु यदि वह पाप का अभ्यासी हो जावेगा तो फल बहुत ही न्यून। यही अवस्था पुण्य की है। परन्तु कौन विचारशील इसका नाम कर्मफल कह सकता है। इसीलिये न्याय में कहा है कि "ईश्वरः कारणं पुरुष कर्माफल्य दर्शनात्"। बस जैन शास्त्र तथा वैदिक साहित्य इस विषय में एक मत हैं। युक्ति से भी यही सिद्ध होता है। बाकी के जितने प्रश्न कसाई गाय आदि के दृष्टान्त देकर किये हैं उनका उत्तर जो आपके यहां है वही हमारे यहां। आपके तीर्थङ्कर भी तो सर्वशक्तिमान, दयालु, तथा सर्वज्ञ हैं, पुनः वे सिद्ध शिला पर से देखते ही क्यों रहते हैं उनसे जाकर प्रश्न करलें।

सृष्टि और विज्ञान

Century नामक पत्र के मई १९२८ ई० के अङ्क में एक सत्य के अन्वेषक लिखते हैं—"So the Hindus have the honour of outsciencing science in their logical analysis of the universe. And their conclusion is that there is no such thing as any primal "Creation" any more than there can be any such thing as final des-

truction". अर्थ—अतः जगत् का तार्किक विश्लेषण करने में वर्तमान विज्ञान (साइंस) को परास्त करनेका श्रेय हिन्दुओं को प्राप्त है और यह उनका सिद्धान्त है कि प्रारम्भिक सृष्टिनिर्माण (Creation) ऐसी और कोई वस्तु नहीं है और न अन्तिम प्रलय से बढ़ कर कोई वस्तु हो सकती है ।

श्रीयुत् चार्ल्स जांस्टन महाशय ने Frodriek-Soddy और Jolly महाशय के मत का पोषण करते हुए लिखा है "Thus says Soddy, in cosmical time, geological age and incandescent age alternate as night and day. And this brings us straight back to the days and nights of Brahma in ancient Aryan science".

अर्थ—साडी महाशय कहते हैं कि इस प्रकार सूर्योदयास्त काल में, भू-निर्माण-काल और प्रलय-काल दिन और रात्रि के समान क्रमशः प्रवर्तित होते हैं और यह बात सीधी वापिस हमको प्राचीन आर्य विज्ञान के ब्रह्म दिवस और रात्रि के पास ले आती है ।

यह है नवीन साइन्स का आविष्कार । यदि इसी प्रकार लिखा जावे तब तो पृथक एक ग्रन्थ तय्यार हो सकता है, परन्तु यह शास्त्रार्थ के नियम के विरुद्ध होने से हमने नहीं लिखे । मालूम होता है आपने कहीं जैन कालेज में विज्ञान पढ़ा है, जहां चांद को सूर्य से बड़ा एवं ऊपर बतलाया जाता है । वस्तुतस्तु आज उस मनुष्य को कोई भी वैज्ञानिक नहीं कह सकता जो यह कहने लगे कि पृथ्वी कभी बनी ही नहीं, चांद

सूरज कभी बने ही नहीं, जल कभी बनता ही नहीं, आदि २। ऐसा कहने वाला तो आज अजायबघर की ही शोभा हो सकता है। आशा है आप आगे को आधुनिक विज्ञान का नाम लेकर जैन विज्ञान को प्रगट न करावेंगे।

विज्ञान और ईश्वर

Flint's Theism के पृष्ठ १८५ पर लिखा है :—

"Besides, how could matter of itself produce order, even if it were self-existent and eternal? It is far more unreasonable to believe that the atoms or constituents of matter produced of themselves, without the action of a supreme mind, this wonderful universe, than that letters of the English alphabet produced the plays of Shakespeare, without the slightest existance from the human mind known by that famous name. These atoms might, perhaps now and then, at great distance and long intervals, produce, by a chance contact, some curious collection as compound, but never could they produce order or organization on an extensive scale or of a durable character, unless ordered, arranged, and adjusted in ways of which intelligence alone can be the ultimate explanation."

सोहनलाल आर्य, मन्त्री आर्यसमाज, पानीपत।

जैनसमाज का उत्तरपत्र

[तारीख़ ७-११-३३—समय ७-५५ बजे रात्रि]

आज आर्यसमाज के पत्र में वैदिक ईश्वर का वर्णन देख कर हमको अपने पड़ौस की पिसनहारीकी याद आतीहै। अपने इकलौते बच्चे को देख कर वह कहा करती थी कि मेरा बच्चा कोतवाल है, राजा है, बड़ा होशयार है, सबसे सुन्दर है, आदि आदि। अपने ईश्वर की बड़ाई के पुल बांध कर ठीक वैसी ही बात आर्यसमाज ने की है। यदि थोड़ी देर के लिये इन श्लोकों के अर्थ को वैसा ही मान लिया जाय जैसा कि आर्यसमाज ने लिखा है तब भी इनका यहां कुछ महत्व नहीं है। यह शास्त्रार्थ है न कि भक्त आर्यसमाजियों की ईश्वर कथा। यदि शास्त्रार्थ की बजाए भोले भक्तों की समाज में इसको सुनाया जाता तो ज़रूर भक्तजन प्रसन्न हो सकते थे। शास्त्रार्थ में प्रत्येक बात युक्तिपूर्ण होने से ही स्वीकार की जाती है। ईश्वर भक्ति के प्रवाह में शायद आप इस सत्य को भूल गये हैं। महाशय जी यदि आपका ऐसा ही मत है तो ज़रा आगे बढ़िये और इस ईश्वर को कम से कम बुद्धिमान प्रमाणित करके दिखाइये। हम वैशेषिक दर्शन के आधार से सिद्ध कर चुके हैं कि ईश्वर एक भिन्न पदार्थ है और बुद्धि भी भिन्न पदार्थ है। ईश्वर द्रव्य है और बुद्धि भिन्न। वैशेषिक दर्शनकार के मत से गुण और

गुणो में भेद होता है। आपने समवाय को नियामक स्वीकार करने से पहिले ही इन्कार कर दिया है, अब बतलाइये कि बुद्धि भिन्न होने पर भी परमात्मा की ही है और आकाश की नहीं, इसमें क्या प्रमाण है ? परमात्मा बुद्धिमान नहीं है उससे भिन्न बुद्धि पदार्थ का उसही में नियामक के अभाव होने से, जैसे घट; यह अनुमान भी परमात्मा को बुद्धि रहित प्रमाणित करता है। अतः जब आर्यसमाज का परमात्मा बुद्धिमान ही प्रमाणित नहीं होता तब उसकी बुद्धि आदि गुणों की बड़ाई के पुल बाँधना वंध्या के पुत्र के सौभाग्य वर्णन की तरह निराधार है। इसके सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि आपने जिन शास्त्रों का ईश्वर के सम्बन्ध में उल्लेख किया है वे ईश्वर के सम्बन्ध के नहीं किन्तु उनका सम्बन्ध शुद्धात्मा से है। इससे स्पष्ट है कि आपका परमात्मा किसी भी दृष्टि से वैसा प्रमाणित नहीं होता जैसा आपने लिखा है। "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्तं चैवा-मूर्तञ्च, मर्त्यं चामृतं च, स्थितञ्च, यच्च, सच्च, त्यच्च," (देखो शतपथ ब्राह्मण १४-२-३-१), (बृ० उप० २-३-१)। इसका अर्थ हम अपने शब्दों में न करके तुम्हारे माननीय ऋषि शंकराचार्य के शब्दों में करते हैं—"द्विरूपं हि ब्रह्म अव-गम्यते, नाम रूपभेदोपाधि, विशिष्ट तदविपरीतं च सर्वोपाधि विवर्जितं"। इसके अतिरिक्त गीता का भी यही मन्तव्य है—"द्वा विमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ गीता १५-१६। प्रलय और सृष्टि के

सम्बन्ध में भी आर्यसमाज ने कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया। हम आर्यसमाज की प्रलय और सृष्टि की जैन मान्यता से तुलना करते हुए इस बात को प्रमाणित कर चुके हैं कि जैन मान्यता समस्त परमाणुओं को चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष तक बिल्कुल भिन्न अवस्थारूप प्रलय एवं फिर उनके संयोगस्वरूप सृष्टि को स्वीकार नहीं करती। यदि आर्यसमाज को हमारे इस वक्तव्य में सन्देह था तो उसको जैन शास्त्रों के आधार पर उक्त बात सिद्ध करनी चाहिये थी किन्तु, आर्यसमाज ऐसा नहीं कर सका। अतः आर्यसमाज का स्वयं पंगुबन कर अपनी मान्य प्रलय और सृष्टि की सिद्धि के लिये जैन शास्त्र रूप यष्टि का सहारा लेना उसकी भयंकर भूल है। काल की बात को भी हम अनेक बार स्पष्ट कर चुके हैं। अगर जैन लोग काल को उदासीन कारण मानते हैं (ऐसा तो आर्यसमाज भी मानता है) तो फिर परमात्मा के साथ जैनों के काल को क्यों खचेड़ा जाताहै। आकाश परिणमनशीलहै,यह हम डङ्के की चोट कहते हैं। अगर आर्यसमाज जैनाभिमत परिणमन के स्वरूप को नहीं समझता तो उसे किसी जैन तत्व ज्ञानी से जैन शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये। आर्यसमाज का जैन सिद्धान्त के सम्बन्ध में कितना ज्ञान है, यह तो इससे प्रगट है कि एक समय वह जैन मान्यता के अनुसार काल को व्यापक बतलाता है और जब उसको इसके सिद्ध करने के लिये ललकारा जाता है तब उसको कहना पड़ता है कि जैन मान्यतानुसार काल

अव्यापक है। यही बात समाज ने जैन मान्यता के अनुसार आत्मा को निष्क्रिय बताकर की है। इस पर भी हम आर्य-समाज को चैलेञ्ज देते है कि वह जैन शास्त्रों के आधार पर आत्मा को निष्क्रिय सिद्ध करै। क्या आर्यसमाज बतला सकेगा कि जब परमाणु प्रलय में भी सक्रिय रहते हैं तो इसका फल क्या है और वह क्यों वियुक्त होते हैं? इस सब विवेचन से प्रगट है कि जैन शास्त्रों के आधारसे आर्यसमाजको प्रलय और सृष्टि सिद्ध नहीं होती तथा उसके पास इसके समर्थनके लिये कोई प्रमाण नहीं है। अतः जब आर्यसमाज का परमात्मा बुद्धिमान नहीं और उसकी प्रलय और सृष्टि भी असिद्धहै तब कर्तावाद की कथा ही क्या है? फिर भी उसके समर्थन में कार्यत्व ज्ञानपूर्वक क्रियात्व नियम आदि जो साधन दिये गए हैं वे सब साधना-भास हैं। कार्यत्व हेतु में साध्यविकलदृष्टान्तता विरुद्धता और अनैकान्तिकता दोष, ज्ञानपूर्वक क्रियात्व में असिद्ध और व्यभिचारी दोष और नियम में असिद्ध दोष दिये जा चुके हैं। आर्यसमाज ने इन सबके सामने भी आत्म समर्पण कर दिया है। ईश्वर के साथ जगत का अन्वय व्यतिरेक नहीं है, यह बात आर्यसमाज स्वीकार कर चुका है। साथ ही हमारे अन्य आठ अनुमान भी जिनको हमने ईश्वर के कर्तृत्व खण्डन में उपस्थित किये थे अभी तक तदवस्थ हैं। इस सम्बन्ध के अन्य प्रश्न भी आर्यसमाज के कर्तृत्ववाद के खण्डन में सहायता देते हैं। अतः स्पष्ट है कि आर्यसमाज ईश्वर को जगत कर्ता सिद्ध करने में

बिल्कुल असफल हुआ है। आर्यसमाज के माननीय शास्त्र वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण आदि से प्रमाणित कर दिया है कि ईश्वर अज्ञानी, पापमय, गर्भमें आनेवाला, भयवान आदि है। आर्य-समाज इसका भी कुछ समाधान न कर सका। अतः इससे स्पष्ट है कि ईश्वर को सर्वशक्तिमान आदि कहना मिथ्या है और जब वह ऐसा नहीं, तब उसको उनहीं आधार से जगत का कर्ता मानना कोरी भ्रान्ति है।

यहाँ हम यह लिख देना भी आवश्यक समझते हैं कि जैन तीर्थंकरों को सर्व शक्तिमान बतलाना आर्यसमाज की अज्ञानता का सूचक है—जैन तीर्थंकर सर्वशक्तिमान नहीं किन्तु अनन्त शक्तिमान हैं।

कर्मफल के सम्बन्ध में हमने अपने पिछले वक्तव्य में आपत्ति उपस्थित की थी कि आपके लक्षण के अनुसार कर्म तो जड़ में भी रहता है फिर उसको फल क्यों नहीं मिलता। दूसरे कर्मफल स्वरूप सुख दुःख में भी कर्म का लक्षण मौजूद है, फिर आप उसको फल कैसे कहते हैं? ऐसी अवस्था में आपका स्वाधीन व पराधीन का नियम कैसे स्थिर रह सकताहै? इसके सम्बन्धमें भी आप मौन हैं। कसाई, शिकारी आदि के दृष्टान्तों के सम्बन्ध में भी आपने कुछ नहीं लिखा है। इससे स्पष्ट है कि ईश्वर के कर्मफल देने की बात आपको स्वयम् निर्बल जचने लगी है, फिर भी कर्म के सम्बन्धमें आप लिखतेहैं कि चोर को कारागार चोरी नहीं भेजती, यह तो एक निमित्त है।

चोर को कारागार होना चैतन्य सत्ता का कार्य है। जिस समय निरपराधी को सज़ा मिलती है उस समय चोरी रूप कर्म तो है नहीं, फिर उसका निमित्त चोरी को कैसे कहा जाए? दूसरे यदि परमात्मा ही चोर को कारागार भेजता है तो उसने चोर को उसही समय कारागार क्यों नहीं भेजा जब वह चोरी कर रहा था; क्योंकि परमात्मा तो दोनों समय एक रूप है, फिर फल में अन्तर क्यों पड़ा? तीसरे निमित्त कारण के अन्य समर्थ कारणों के साथ होते हुए भी उस समय कार्य का न होना और कालान्तर में मुख्य निमित्त के बिना भी हो जाना कार्य कारण भावकी नियामकता को तिरोहित करता है।

उक्त बातोंका समाधान यदि आप करसकेंगे तो ईश्वरके सम्बन्ध में कर्मफल देने के आपके भाव कपूर की तरह उड़ जायँगे। यदि आपमें बल है और आप चाहते है कि आपके कर्मफल दाता ईश्वर की वास्तविकता जनता को मालूम हो जाए तो कृपया अगले पत्र में ही इसका समाधान करें।

सृष्टि और विज्ञान का सार

आज आपने विज्ञान के दो तीन प्रमाण देकर अपनी योग्यता की रही सही कलई (पोल) खोल दी। आप वैज्ञानिक सिद्धांतोंका विवेचन तो क्या करेंगे, पहिले आप वैज्ञानिक भाषाके अर्थ को तो समझलें। आपने जो पहला प्रमाण Century नामक पत्र के हवाले से दिया है, महाशय जी वह तो आपके सृष्टि

कर्तावाद का पूर्णतया खण्डन करता है। आपको किस गुरुकुल के छात्र ने ऐसी सरल अङ्गरेज़ी के इतने उलटे अर्थ बतला दिये—

"And their conclusion is that there is no such thing as any primal creation any more than there can be any such thing as final destruction".

अर्थात्—उनका यह मन्तव्य है कि जगत की ना कोई आदि सृष्टि है और नाही कोई इसका अन्तिम प्रलय है यानि जगत अनादि और अनन्त है।

इसे कहते हैं "जादू सिर चढ़ कर बोलना"। महाशय जी, तुम्हारा क्या दोष, तुम्हारा ईश्वर ही तुम्हारी कर्तावाद रूप भ्रान्ति का नाश कर रहा है।

आपने जो दूसरा प्रमाण Charles Jhonston का दिया है वह भी आपका उलटा घातक है। वह तो जैनियों के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल की स्थापना करता है। जैसा कि दिन के पश्चात रात्रि आती है और रात्रि के पश्चात् फिर दिन इसी तरह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का चक्र अनादि काल से अनन्तकाल तक चलता रहता है।

इसी तरह तीसरा प्रमाण देकर तो आपने कमाल ही कर दिया—कौन नहीं जानता कि "काँट" विज्ञानवादी नहीं था, किन्तु वह तो एक अद्वैतवादी फ़िलोसफ़र था।

अब लीजिये—आधुनिक विज्ञान!

जिससे आपके सृष्टि कर्तावाद का पूर्णतयः खण्डन होता

है—1. Hackel अपनी किताब The Riddle of the Universe में पृष्ठ १९८ पर फ़रमाते हैं :—(2) The duration of the world is equally infinite & unbounded, it has no biginning & no end, it is no eternity. (3) Substance is everywhere and always in uninterrupted movement and transformation nowhere is there perfect repose and rigidity; yet the infinite quantity of matter and of eternally changing force remains Constant.

अर्थात्—यह विश्व भी अनादि और अनन्त है, इसका न कोई आरम्भ है न अन्त, यह सनातन है, जगत द्रव्य से परिपूर्ण है जो सदा अन्तर रहित परिणमन शील है। जगत में कहीं पर भी सर्वथा निष्क्रियपन अथवा कूटस्थता नहीं है ताहं पुद्गल की अनन्त मिक़्दार और उसकी सदा परिणमन शील शक्ति सदैव एकसी रहती है।

2. Modern Inorganic Chemistry में J. W. Mellor. D. Sc. पृष्ठ ८४४ पर पुद्गल द्रव्य के सम्बन्धमें निम्न लिखित मन्तव्य प्रगट करते हैं :—"We have here the principal of opposing reactions, and the radioactivity of normal radium in an equilibrium value because the rates of production & disintegration of the emanation are evenly balanced". अर्थात् हम इस (रेडियम) में दो विभिन्न शक्तियों को एक साथ काम करते हुए पाते हैं, साधारण रेडियो एक्टीविटी सदा एकसी रहती है चूंकि उसकी

शक्ति की छटा की उत्पत्ति और ह्रास की रफ़्तारें दोनों समान रहती हैं।

3. "The Science for you." chapter 3 The Moon is our Saviour.

४. यदि आपको अत्यन्त आधुनिक सृष्टि और प्रलय के सम्बन्ध में वैज्ञानिक तत्व को समझना है तो आप "Nature, 31st January 1931, Page 167 to 170". देखें, जिसमें प्रोफ़ेसर R. A. Millikan, Noble prize winner in Physics ने इस बात को सिद्ध करके दिखलाया है कि चूंकि अंतरिक्ष प्रदेशों से Cosmic Rays (कौस्मिक रेज़) पैदा हो होकर सूर्य चन्द्र पृथ्वी आदि की निरन्तर ह्रास हुई शक्तियों की पूर्ती करती रहती हैं इसलिये विश्व के इतिहास में कोई समय ऐसा सम्भव नहीं हो सकता जबकि विश्व का सर्वथा परमाणु रूप विनाश हो जाय।

अब रहा आपके जगत की व्यवस्था के सम्बन्ध में वैज्ञानिक मत सो भी देखिये :—Inorganic Chemistry में J. W. Mellor, D. Sc. Page 861 पर Mayers floating Magnets के परीक्षण से सिद्ध करते हैं कि पुद्गल स्कन्धों की व्यवस्थामय आकृति, परमाणु और सन्निकट अन्य स्कन्धों की पारस्परिक आकर्षण शक्ति से, बन जाया करती है। यही तथ्य उन्होंने पृष्ठ १७६-१७७ पर Crystalisation का उल्लेख करते हुए सिद्ध किया है। और यह नित्यप्रति देखने में भी आता

है कि हलवाई के शकोरों में पड़ी हुई मीठे की चाशनी कुछ ही काल में कैसे सुन्दर २ मिश्री के रवों की आकृति धारण कर लेती है ।

महाशय जी ! ज़रा आप अपने आर्यसमाज के प्रामाणिक ग्रन्थों में यह तो ढूंढने का प्रयत्न कीजिये कि जगत के पैदा करने वाले ने इसको किस दिन बनाना आरम्भ किया और कितने समय में बनाकर समाप्त किया । २. इसका भी पता लगाइये कि दुनियाँ कहां से बननी आरम्भ हुई और किस स्थान पर जाकर समाप्त हुई । ३. यह भी फ़रमाइये कि कौन चीज़ कैसे किसके पश्चात् कितने कितने समय में किन किन साधनों से बनकर तैयार हुई ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आर्यसमाज ईश्वर के जगतकर्ता सिद्ध करने में प्रमाण नहीं दे सका और खण्डन में दिये गए प्रमाणों का खण्डन नहीं कर सका, अतः यह निस्सन्देह है कि ईश्वर जगतकर्ता नहीं ।

ह० मुनिसुव्रतदास जैन
प्रतिनिधि जैन समाज, पानीपत ।

---

[७]

आर्यसमाज का पत्र

[तारीख़ ८-११-३३— समय ८ बजे प्रातः]

ईश्वर सृष्टिकर्ता

ईश्वर सृष्टिकर्ता सम्बन्ध में निम्न लिखित बातें विचारणीय थीं :—(१) यह सृष्टि कार्य है या नहीं ? इसका कार्यत्व सिद्ध करने के लिये प्रथम तो मैं ने सृष्टि शब्द को ही उपस्थित किया था कि यह शब्द स्वयं अपने वाच्य को कार्य सिद्ध करता है। इसको जैन समाज ने स्वीकार कर लिया (२) जैन शास्त्र के प्रमाणों से भी मैंने इस सृष्टि को कार्य बतलाया था, जैसा कि पञ्चास्तिकाय में इसकी उत्पत्ति स्पष्ट लिखा है। पहिले तो जैनसमाज ने इसके ऊपर आवरण डालने का प्रयत्न किया, परन्तु उन्हीं के आचार्यों के भाष्यों से यह बतला दिया गया कि "निष्पन्न" शब्द का अर्थ उत्पन्न होना ही है। अब केवल भेद यह रह गया कि जैन समाज कहता है कि यह सृष्टि परमाणुओं से नहीं बनी अपितु पुद्गल, जीव, आकाश, कालादि द्रव्यों से बनी है। यद्यपि इसमें मतभेद है, तो भी

सृष्टि का कार्य तो जैन समाज ने स्वीकार कर ही लिया। तत्वसार के जो प्रमाण प्रथम पत्र में दिये थे उन पर जैनसमाज ने आज तक कोई आपत्ति नहीं की। इससे सिद्ध है कि उसने इन प्रमाणों को भी स्वीकार कर लिया। इससे सृष्टिका कार्यत्व और भी पुष्ट हो गया। दूसरी बात प्रलय की है—प्रथम तो सृष्टि का कार्यत्व सिद्ध हो जाने से प्रलय स्वयं सिद्ध है। फिर भी मैं ने त्रिलोकसार, उत्तरपुराण, आदि जैन शास्त्रों से इसको प्रलय सिद्ध कर दी थी। अभी तक जैन समाज इसको भ्रम में डालने का ही प्रयत्न कर रहा है। इस स्थल पर जैन समाज किञ्चित् स्थान व कभी कुछस्थान की प्रलय बतलाकर संसार में भ्रम फैलाने का प्रयत्न कर रहा है। जब मैंने पूछा कि "किञ्चित्" और "कुछ" आदि शब्दों का अर्थ कितना लम्बा चौड़ा स्थान है, तो आप मौन साध गये। वास्तव में किञ्चित् और कुछ शब्दों द्वारा सत्य को छुपाना चाहा है। हम इसको फिर स्पष्ट करते हैं—त्रिलोकसार में मही अर्थात् पूर्ण पृथ्वी का ४००० मील गहराई तक चूर्ण चूर्ण होना—जिससे परमाणु रूप होकर प्रलय होना स्पष्ट है। यहां शब्द एक योजन आया है जिसके अर्थ २००० कोस के हैं। इसको जैन समाज ने स्वीकार कर ही लिया। तत्वादर्श में पं० आत्मा राम जी जैन ने ४००० कोस का योजन लिखा है। इससे सम्पूर्ण पृथ्वी का नष्ट होना सिद्ध है। अब रह गई विस्तार की बात—उसके लिये जैन समाज लिखता है कि यह प्रलय केवल

आर्य खण्ड की ही होती है। हम चाहते थे कि जैन समाज ही इस आर्य खण्ड के विस्तार को प्रकाशित करता परन्तु पोल खुलने के भय से ऐसा करने का साहस नहीं किया। विवश हम ही लिख देते हैं। जैन सिद्धान्तानुसार आर्यखण्ड में वर्तमान समय के बशिया, योरुप, अफ्रीका, अमरीका, आस्ट्रेलिया आदि समस्त महाद्वीप आ जाते हैं (देखो जैन सिद्धान्त दर्पण पृष्ठ १९३), जिससे समस्त भूगोल का परमाणु रूप हो जाना प्रत्यक्ष सिद्ध हो गया। यदि जैन समाज यह कहने का साहस करे कि जैन शास्त्रों में इतनी ही बड़ी नहीं लिखी है, उसका विस्तार इससे बहुत अधिक है, तो इसके उत्तर में हमें कहना पड़ता है कि उस विस्तीर्ण पृथ्वी की प्रलय तो आर्य समाज के तर्क के भय से विज्ञान के विकास के साथ ही कभी की हो चुकी। पृथ्वी की प्रलय सिद्ध होने पर सूर्य्य चन्द्रादि की प्रलय स्वतः सिद्ध है, क्योंकि एक दूसरे के आश्रित हैं। बस "यत्रभावित्वे सति विनाशित्वं तत्र कार्यत्वं" अनुमान से भी इसका कार्यत्व सिद्ध है। तथा व्यष्टि में जो गुण होते हैं वही समष्टि में रहते हैं, इस सिद्धान्तानुसार भी समस्त संसार का भी परमाणु रूप होकर प्रलय होना सिद्ध है। वास्तव में तो कार्य शब्द ही इतना स्पष्ट है कि प्रत्येक आबाल वृद्ध इसके अर्थ को जानता है और कार्य कारण के भाव को समझ सकता है। संसार में नित्य प्रति कार्य और कारण का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति करता है, क्योंकि संश्लेषणात्मक और विश्लेषणात्मक कार्य प्रति

समय होते रहते हैं। इस प्रत्यक्ष सिद्धान्त से जैन समाज ने इन्कार करके कौन से उद्देश्य की सिद्धि की है, यह वही जाने। मैं ने एक और हेतु इसके कार्यत्व सिद्ध करने में मूर्तिमान होना दिया था। इस सम्बन्ध में आपने द्वि-अणुक आदि कार्यों में इस हेतु की अव्याप्ति बतलाई थी, जिसका परिहार मैं पूर्व कर चुका हूँ कि जैन शास्त्र द्वि-अणुक आदि प्रदेशों को भी चाक्षुष बतलाते हैं जिसपर आपने कोई आपत्ति नहीं उठाई। अस्तु, हम जैन समाज से नम्रता पूर्वक पूछना चाहते हैं कि जब आप लोग द्वि अणुक आदि सूक्ष्मपदार्थों को भी कार्य मानते हो तो उनसे निर्मित इन स्थूल पदार्थों को कार्य मानने से क्यों भय खाते हैं? क्या कार्य की कर्ता से व्याप्ति नहीं है? दूसरा दोष इस हेतु में यह दिया था कि जहां २ कर्ता नहीं है वहां २ भी कार्य देखते हैं, जैसे अकस्मात् गिरे हुये बीज से वृक्ष का उत्पन्न होना। प्रतीत होता है जैन समाज को यहां कर्ता के समझने में भ्रम हुआ है। क्या आप के मतानुसार उस वृक्षोत्पत्ति रूप कार्य में उपादान कारण को छोड़ और कोई भी कारण नहीं है? क्या कोई भी ऐसा कार्य दिखा सकते हैं जिसका निमित्त कारण न हो। बस हम उस निमित्त कारण ही को कर्ता कहते हैं। जिस तरह आप को हमारी लिखित प्रलय में यह भ्रम था कि हम परमाणुओं को चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष तक निष्क्रिय मानते हैं इसी तरह कर्तावाद के विषय में आपको भ्रम हो रहा है। मैं ने प्रथम पत्र में ही इसको स्पष्ट कर दिया था परन्तु आपने उस पर

विचार नहीं किया। मैं आपको फिर बतला देता हूँ कि हम ईश्वर को इस सृष्टि का निमित्त कारण मानते हैं, जैसा कि आप काल को मानते हैं। उसी चैतन्य सत्ता के नियम से क्रियावान होकर संसार में सामान्य गति प्रचलित होती है, जोकि नाना कार्यों का कारण है। जिस प्रकार शरीर में जीवात्मा क्रिया दे रहा है उसी प्रकार परमात्मा संसार में दे रहा है। अब आपका परम मान्य कोई आधुनिक प्रकृतिवादी वैज्ञानिक यह कहे कि शरीर में क्रिया का कारण जीवात्मा नहीं है क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि हाथ पैर आदि बिना जीव नामक किसी वस्तु की सहायता के अपना काम कर रहे हैं तो इसका जो कुछ उत्तर आप जीवात्मा की सिद्धि के लिये देंगे, वही उत्तर ईश्वर सिद्धि के लिये होगा। इसीलिये प्रथम पत्र में ही मैं ने इस दोष का वारण यह कह कर किया था कि आप साध्य को दृष्टान्त नहीं बना सकते, परन्तु आपने उस पर कुछ ध्यान नहीं दिया। आपने इस विषय में सत्यार्थप्रकाश का हवाला देकर व्यर्थ भ्रम फैलाने का प्रयत्न किया है। इस हेतु में आपने दूसरा दूषण साध्य विकलता का दिया है। आप कहते हैं कि इस हेतु से सर्वज्ञ कर्ता सिद्ध नहीं होता। आपको स्मरण रखना चाहिये कि प्रकृत विषय में कर्त्ता की सामान्यता से दृष्टान्त दिया गया है, न कि ज्ञान की सामान्यता से; यथा घड़ी को देखकर उसके चेतन कर्ता का अनुमान होता है। यदि किसी ने कारी-

गर को काले रङ्ग का ही देखा हो, उससे यह कहा जाय कि यह घड़ी किसी गोरे ने बनाई है तो वह यह कहेगा कि घड़ी बनाने वाला गोरा सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि बनाने वाला काला ही देखने में आया है। ऐसा ही आपका कथन है। श्रीमान् जी दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के भेद का आपको ध्यान रखना चाहिये। इसी प्रकार हमने यह कहा था कि क्रिया बिना कर्ता के नहीं होती। उसमें भी आपने उसी साध्य को अपना साधन बना लिया। इसलिये यह आपका साध्यसम हेत्वाभास है। श्रीमान् जी, संसार में अकस्मात् कोई भी कार्य नहीं होता। हम इसको प्रबल युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध कर चुके हैं जिसका आपने आज तक समाधान नहीं किया। तथाच एक और प्रमाण देते हैं—"अतोऽकस्मान्निर्वर्त्यमानं न पुनर्निर्वर्त्स्यति" अर्थात् आकस्मिक घटनायें अनेक बार उसी प्रकार की नियमित रूप से नहीं होतीं। परन्तु संसार में तो नियमित क्रियायें एक ही प्रकार की नित्य देखते हैं। पुनः इसको अकस्मात् क्रिया बतलाना कहाँ तक युक्तियुक्त है, इसका स्वयं विचार करें। आपने एक आपत्ति यह की कि संसार में ज्ञानपूर्वक क्रिया की व्याप्ति नहीं है, क्योंकि हम अनावृष्टि अतिवृष्टि आदि देखते हैं। श्रीमान् जी इसमें ज्ञान-पूर्वक न होने से क्या अभिप्राय है? क्या कोई राजा किसी को दण्ड देता है तो आप उसको अज्ञानपूर्वक बतलायेंगे? अथवा कोई माली अपने बगीचे के कुछ वृक्षादि काट कर उसको साफ

करता है तो क्या आप उसको वह क्रिया अज्ञानपूर्वक बतलायेंगे ? आगे आप लिखते हैं कि हम हिंसक जीवों की उत्पत्ति देखते हैं, इसलिये दयालु ईश्वर कर्ता नहीं। श्रीमन् आपको यह ध्यान रखना चाहिये कि एक न्यायशील राजा जल्लादों को रखने से क्रूर नहीं कहा जा सकता। श्रीमान् जी सृष्टि को सुव्यवस्थित रखने के लिये इनका होना अत्यावश्यक है। छोटे छोटे कीड़े खेत की मिट्टी को बारीक करके उसको उपजाऊ बनाते हैं जिसको मनुष्य दीर्घ काल में भी न बना सके, परन्तु ये कीड़े भी अधिक संख्या में बढ़ जायं तो खेती को नष्ट ही कर डालें। इसलिये इनको नियमित रूप में रखने के लिये तथा कर्मों का फल देने के लिये दूसरे कीड़े बनाये गये हैं। इसी प्रकार संसार के सभी पदार्थ सार्थक बनाये गये हैं। तथा उन छोटे २ कीड़ों की रक्षा के साधन भी परमात्मा ने प्रदान किये हैं जिससे उनका नाश न हो। श्रीमन् यदि कोई मनुष्य किसी प्रकार का पाप करता है अथवा वेद का विरोधी होता है तो यह उसका अपना स्वतंत्र कर्म है। परमात्मा जीवात्मा की स्वतंत्रता में कुछ भी बाधक नहीं है। यदि बाधक होजाय तो जीवात्मा का कर्तृत्व धर्म ही नष्ट हो जाय तो शायद आप ही परमात्मा के विरुद्ध यह प्रस्ताव करें कि परमात्मा बड़ा क्रूर है। जिसने हमारी स्वतंत्रता तक छीन ली। श्रीमन्, जिस स्वतंत्रता के लिये संसार आज लालायित है उसी को आप खोना चाहते हैं।

तथा आपको यह भी याद रखना चाहिये कि जहां आप अपनी अल्पज्ञता से ईश्वर और वेद के विरोधी बन गये हैं वहां आपका यह भ्रम दूर करने के लिए ईश्वर ने ऋषि दयानन्द जी को भी भेज दिया। आगे आपने लिखा कि बुद्धि एक भिन्न पदार्थ है। श्रीमान् जी, बुद्धि अर्थात् ज्ञान आत्मा का ही गुण है जोकि उसमें संवाय सम्बन्ध से रहता है। गुण गुणी से कभी पृथक नहीं रहता। आपके यहां भी द्रव्य का लक्षण "गुण समुदायो द्रव्यः" किया है। फिर यदि गुण गुणी से पृथक् हो जायेगा तो द्रव्य किस प्रकार रहेगा? रहा भिन्न पदार्थ का प्रश्न? सो तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि किसी मनुष्य में ज्ञानगुण अधिक है, किसी में लेखन कला, किसी में वक्तृत्व शक्ति—तो क्या ये गुणही मनुष्य कहलायेंगे। यद्यपि गुण गुणी से भिन्न पदार्थ हैं तथापि ये नित्य सम्बन्ध से रहते हैं। नित्य सम्बन्ध से रहने के कारण परमात्मा में ज्ञान का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि नित्य सम्बन्ध का अभाव नहीं होता। आगे आप लिखते हैं कि सृष्टि को प्रत्यक्ष से वह जानेगा जो परमाणुओं की भिन्न अवस्था के साथ उसके संयोग को भी इन्द्रियों से जान रहा हो, यह आप का कथन ऐसा ही है जैसे कोई यह कहे कि शरीर को प्रत्यक्ष वह जानेगा जिसने आत्मा और शरीर की भिन्न भिन्न अवस्था के साथ इनके संयोग को भी देखा हो। क्या इस कथन से जीव या शरीर का अभाव सिद्ध हो जायेगा? इसी तरह सृष्टि और परमात्मा का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। इससे सृष्टि

के मूर्तिमान मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। तथा पहाड़ आदि को देखकर बुद्धिमान् कर्ता की व्याप्ति का अभाव सिद्ध करना भी अयुक्त है, क्योंकि यदि ये पर्वत न होते तो आज नदियें औषधियें वनस्पतियें वर्षा आदि कहां से प्राप्त होतीं ? ऐसी अवस्था में इन प्राणियों की क्या हालत होगी, इसका बिना विचार किये ही आपने ऐसा लिख दिया। पर्वतादि का निर्माण उनकी ऊंचाई आदि परमात्मा की दया और पूर्ण ज्ञान के प्रकाशक हैं। सर्वव्यापक होने से ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं हो सकता, यह आपका लिखना असङ्गत है, क्योंकि आकाश आदि सर्वव्यापक रहते भी आपके यहां कारण माने गये हैं। आप कहते हैं हम काल को सर्वव्यापक नहीं मानते, परन्तु कई बार पूछने पर भी आपने यह नहीं बतलाया कि सृष्टि के किस किस स्थान पर काल का अभाव है। अन्वय व्यतिरेक के अभाव से कर्ता का खण्डन करना भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम तो आपने कारण के साथ अन्वय व्यतिरेक की व्याप्ति ही सिद्ध नहीं की, पुनः, ईश्वर में उसका अभाव सिद्ध नहीं किया। यदि आपकी अन्वय व्यतिरेक वाली बात मान भी लें तो केवलान्वयी और केवल व्यतिरेकी अनुमान को आप किस प्रकार सिद्ध करेंगे ? प्रतीत होता है आपको यहां यह भ्रम हो गया है कि कर्तृत्व प्रलय काल में नहीं रहता सो मैं आपको बतला देना चाहता हूँ कि प्रलय काल में भी ईश्वर कर्तृत्व अबके समान ही सिद्ध रहता है, क्योंकि संश्लेषणात्मक और विश्लेषणात्मक कार्य होते

हैं। कसाई आदि का दृष्टान्त भी ठीक नहीं, क्योंकि कसाई अपनी इच्छा से स्वतंत्रा पूर्वक कर्म करता है, इसलिये वह फल का भागी है। इसी प्रकार अन्य बातों का उत्तर समझिये। रह गया हमारे ग्रन्थों का प्रश्न, सो पूर्व पत्र में उसका उत्तर दिया जा चुका है, परन्तु फिर आपने पं० नरदेव जी के भाष्य का उल्लेख किया सो यह आपकी भूल है, क्योंकि पं० नरदेव जी हमारे लिये वेद वाक्य नहीं हैं। फिर आपने यह पूछा कि यह अर्थ कौन से शब्दों का किया, सो श्रीमान् जी इसका अध्याहार होता है। शतपथ ब्राह्मण के विषय में लिखा है, सो श्रीमान् जी "अक्षिता" का अर्थ "न्यूनता का अभाव" है अर्थात् यह संसार पूर्ण ज्ञानी का निर्मित है। इसलिये इसमें कोई त्रुटि नहीं है—यह भाव है। आगे मार्ग का अनुसरण न करने के लिये आपसे नम्र प्रार्थना की गई थी, उसी का फिर आपने आश्रय लिया है और कुछ ग्रन्थों के नाम लिखकर जनता को धोके में डालने का निन्दनीय प्रयत्न किया है। क्या इसी प्रकार के झूठे हवाले देकर अपने मान्य पुरुषों के विषय में भी हमसे लिखवाना चाहते हैं। हम फिर आप को सचेत करते हैं कि इसका परिणाम आपके पक्ष में क्या होगा, इसको समझ लें। आपने यहाँ पर यजु० ५। ६। से परमात्मा को अज्ञानी बतलाया जहां शिष्य गुरु का संवाद है। शिष्य के संवाद को परमात्मा में घटा दिया है। दूसरे यजु० ७। ३७ में "अभयं कृणु हि विश्वतो नः" इस जीवों की प्रार्थना को ईश्वर को

बतला कर लोगों की आंखों में धूल झोंकी है। यही अन्य प्रमाणों का हाल है। तप का वास्तविक अर्थ "यस्य ज्ञानमयं तपः" ऐसा उपनिषदों में कहा है। मैथुन के लिये आपने कोई प्रमाण ही नहीं दिया। आपने शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से ब्रह्म के दो रूप मूर्त और अमूर्त बतलाये हैं—यहां पर एक शबल ब्रह्म और एक साम ब्रह्म का वर्णन है जिसको समझने के लिये योग्य गुरु की आवश्यकता है। ब्रह्म शब्द के कितने अर्थ हैं, यह आप कैसे जान सकते हैं। शतपथ ब्राह्मण के लेख का जो आपने अनर्थ किया है वह भी आप का घृणित कार्य है। श्रीमन्! यहां पर जीवात्मा का वर्णन है परमात्मा का नहीं। आर्यसमाज के ईश्वर के विषय में आपके ऐसे असद्भाव आप के संस्कारों को प्रगट करते हैं।

कर्मफल

इस विषय में जितनी मैं ने युक्तियां दीं थी उनका आपने कोई समाधान नहीं किया, केवल इस पत्र में जैन नरक और जैन स्वर्ग के विषय में आपने भ्रान्ति फैलाई है। असुर कुमार नरक के बाहर उसी तरह रहते हैं जिस प्रकार जेलख़ाने के बाहर जेलख़ाने के सिपाही। यहां इन असुर कुमारों का जैन सिद्धान्तानुसार यम राजा भी है जिसका नाम यम (पद्म पुराण पर्व आठ में देखो) है। तिसपर भी तारीफ़ यह है कि यह सब जैनी हैं और इनके प्रत्येक घर में जैन मन्दिर भी हैं, जिनमें तीर्थंकर भगवानों की मूर्तियाँ भी हैं। वहाँ नारकियों की

पारस्परिक लड़ाई का ही ज़िक्र नहीं है अपितु स्पष्ट लिखा है कि वे असुर कुमार नारकियों को ताम्बा गला कर पिलाते हैं और जब वे चिल्लाते हैं तो उनसे कहते हैं कि यह तुम्हारे शराब पीने का फल है। इसी तरह उन्हीं का माँस काटकर उन को खिलाते हैं और भी अनेक प्रकार की असह्य यातनायें देते हैं। इतना स्पष्ट होने पर आप संसार को कैसे धोके में डाल सकेंगे ? इसी तरह स्वर्ग में भी है।

विज्ञान

आपने आधुनिक विज्ञान का बार बार ज़िक्र करके अपने पीछे एक नई आफ़त और मोल ले ली है—(१) चान्द सूरज से ऊपर है (मोक्ष शास्त्र अध्याय चार) और बड़ा है यह किस साइन्स वेत्ता ने माना है, उनका नाम उद्धृत करें। (२) एकसौ दस योजन में ही यह नक्षत्र मण्डल है, यह कौनसी साइन्स की पुस्तक में लिखा है। (३) चान्द और सूरज के विमानों को सोलह सोलह हज़ार देवता उठाये फिरते हैं, इस जैन ज्योतिष की पुष्टि में भी किसी अङ्गरेज़ ज्योतिषी का नाम लिखें। (४) तीन कोस की कीड़ी (चिउंटी) संसार के किस अद्भुतालय में है ? और भी चाहें तो आपके अपूर्व अद्भुत जैन विज्ञान के और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

किंबहुना, हमने ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व की सिद्धि जहां अनेक युक्तियों से की है वहां जैन शास्त्रों के भी ऐसे प्रबल

प्रमाण दिये हैं कि जिसका समाधान आज तक न कर सके, न कर सकेंगे।

भूलता जाता है योरुप आस्मानी बाप को ।
बस खुदा समझा है उसने बर्क़ को और भाप को ॥
बर्क़ गिर जायगी एक दिन और उड़ जायेगी भाप ।
देखना अकबर बचाये रखना अपने आपको ॥

सोहनलाल आर्य, मन्त्री आर्यसमाज, पानीपत।

जैनसमाज का उत्तरपत्र

[तारीख़ ८-११-३३—समय १२ बजे दोपहर]

आर्यसमाज के दो वाक्य इस सम्बन्ध में उल्लेख योग्य हैं—एक "संश्लेषात्मक और विश्लेषात्मक कार्य प्रति समय होते रहते हैं" और दूसरा "प्रलय काल में भी उसके समान कर्तृत्व रहता है" क्योंकि "संश्लेषात्मक और विश्लेषात्मक कार्य होते रहते हैं"। आर्यसमाज के इन वाक्यों से प्रगट है कि प्रलय काल में भी प्रति समय संयोग और वियोग होते रहते हैं और ऐसा कोई समय नहीं आता जब स्कन्धों का बिल्कुल अभाव हो जाता हो। अतः आर्यसमाज का प्रलय में जगत के समस्त परमाणुओं को चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष तक भिन्न भिन्न परमाणु रूप मानना मिथ्या है। इसके

सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि जिन जैन शास्त्रों के आधार से आर्यसमाज ने अपनी मान्य प्रलय और सृष्टि के समर्थन का प्रयास किया है वह भी व्यर्थ है। जैन शास्त्र चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष तक तो क्या एक क्षण मात्र भी जगत के समस्त परमाणु क्या उसके एक भाग को भी परमाणु रूप नहीं मानते। जैन शास्त्रों की मान्यता और आर्यसमाज की प्रलय का तुलनात्मक ढङ्ग से हम पहिले ही वर्णन कर चुके हैं फिर भी यहां उस ही त्रिलोकसार के प्रमाण से बतलाये देते हैं कि जैन शास्त्र उस छोटे से भाग में भी जहां की परिस्थिति जन साधारण के रहने योग्य नहीं रहती उसके किनारों एवं वहां भी शरीरधारियोंका अस्तित्व मानते हैं (देखो त्रिलोकसार गाथा ८६५) अर्थात् विजयार्ध पर्वत और गङ्गा सिन्धु नदी और इनकी वेदी और तिनके क्षुद्र बिल आदिक तिन प्रति तिनही के निकटवर्ती प्राणी प्रवेश स्वयमेव करैं हैं। बहुरि दयावान विद्याधर वा देव हैं ते मनुष्य युग्लादि देकर (और) बहुत जीवन को तित बाधा रहित स्थान को प्राप्त करैं हैं। पृथ्वी के परिमाण के सम्बन्ध में बात यह है कि जैन शास्त्र पृथ्वी के परिमाण को बहुत बड़ा मानता है, जिसके सामने आधुनिक उपलब्ध पृथ्वी बहुत ही कम है। किञ्चित् का आशय भी इसी रूप में समझना चाहिये। प्रमाण में आर्यसमाजको स्वामी दयानन्दका यजुर्वेद भाष्य और योगदर्शन का व्यास भाष्य देखना चाहिये—"हे मनुष्या यथा वयं ये असंख्याता सहस्राणि रुद्रा भूम्यामधि

सन्ति। तेषां सकाशात् सहस्र योजने धनुवान्य व तन्यसि तथा यूयमपि तनुत" भावार्थ—हे मनुष्यो जैसे हम लोग जो जो संख्या रहित जीवों के सम्बन्धी वा पृथक प्राणादि वायु भूमि पर हैं उनके सम्बन्ध से असंख्य चार कोस के योजनों वाले देशमें धनुषों का विस्तार करें, वैसे तुम लोग भी विस्तार करो (देखो यजु० अ० १६, मं० ५४—५५)। तत् परस्तारः सप्त लोकाः तत्रावो च प्रभाति मेरु पृष्ठम् यावदित्येश भूरि लोका, मेरु पृष्ठादारभ्य आध्रुवाद ग्रह नक्षत्र तारा विचित्रो अन्तरिक्ष लोका, तत् परा स्वर लोकः पञ्च विधः ×××तत्र आवीच रुपरिर्युपरि निविष्टः षट् महा नरक भूमयोः × × × यत्र स्वकर्मोपार्जित दुख वेदना प्राणिना कष्टपायु दोर्घ माक्षिप्य जायन्ते × × × भूमी ऋयमष्टमी सप्त द्वीपा वसुमति यस्या सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काञ्चनः × × × तदेतद् योजन शत सहस्रं सुमेरोर्दिशि दिशि तदर्धेन व्युढं सखलु अयं शत सहस्रायामो जम्बुद्वीपः ततो द्विगुणेण लवणोदधिना वलया कृतिना वेष्ठिता × × × सप्त समुद्र वेष्ठिता वलया कृतयो लोका लोक पर्वत परिवारः पञ्चाशत् योजन कोटि परिसंख्याता" (पातञ्जलि योगदर्शन व्यास भाष्य ३—२६)। इससे स्पष्ट है कि जैन तो क्या आर्यसमाज के वेद भी और दर्शन शास्त्र भी भूमि को असंख्य योजन का बतलाते हैं। आप हमारे ऊपर आक्षेप करके "उल्टा चोर कोतवाल को डांटे" की कहावत को चरितार्थ करते हैं। अतः इस दृष्टि से भी जगत की प्रलय सिद्ध नहीं होती। पंचास्तिकाय के सम्बन्ध में

भी पहिले तो आर्यसमाज "यैः" के साथ परमाणुओं का सम्बन्ध जोड़ता था किन्तु प्रमाण देने पर उसको स्वीकार करना पड़ा कि पंचास्तिकाय में "यैः" शब्द से नित्य काल आकाश आदि द्रव्यों का ग्रहण किया गया है तब "निष्पन्नं" शब्द से आपकी कल्पित उत्पत्ति का सम्बन्ध कैसे घटित हो सकता है। आर्यसमाज के मन्तव्यानुसार जगत ईश्वर का बनाया हुआ है ऐसा कहा जाता है। जबकि जगत में काल आकाश आदि भी सम्मिलित हैं जिनको ईश्वर वादी नित्य मानते हैं, तब क्या काल आकाशादि को भी ईश्वर का निर्मित माना जाता है? अतः "निष्पन्नं" शब्द का अर्थ "बना हुआ है" जिसका सम्बन्ध नित्य द्रव्यों के साथ होने से उसकी अकृत्रिमता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। आर्यसमाज ने सहस्र का अर्थ असंख्यात लिखा है, क्या आर्यसमाज बतला सकता है कि यह किस प्रमाण के आधार पर लिखा गया है? तत्वार्थसार में भी पंचास्तिकाय की तरह ही अकृत्रिमता का समर्थन किया गया है।

इन सब विवेचनों से स्पष्ट है कि जैन शास्त्र आर्य-समाजकी मान्य प्रलय और सृष्टि का समर्थन नहीं करते। समष्टी और व्यष्टि के सम्बन्ध में भी प्रथम तो यह नियम ही नहीं है जो आपने लिखा है, क्या कभी एक घड़े के फूटने से सारे संसार का नाश प्रारंभ हो जाता है, दूसरे उस समय वियोग ही होता है संयोग नहीं यह भी भ्रम है। अतः इससे भी प्रलय को प्रमा-

णित नहीं किया जा सकता। शतपथ का प्रमाण "अक्षितावै-लोका" १२-३-४-११ यह प्रमाणित करता है कि लोक अनन्त है, इसका जब कुछ जवाब नहीं बना तब एक दफ़ा तो आर्यसमाज की तरफ़ से यह लिखा गया कि यह परंपरा से है, दूसरी बार "अक्षिता"का अर्थ न्यूनता का अभाव किया गया अर्थात् यह लोक पूर्ण ज्ञानी का निर्मित है, अतः इसमें कोई त्रुटि नहीं है। यहां, झूठा अर्थ करने में जैसी गड़बड़ी होनी चाहिये वैसी ही हुई। एक ही शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ दो पत्रों में लिखे गये, अतः "अक्षिता" का वास्तविक अर्थ अनन्तता ही है जो आर्यसमाज की प्रलय और सृष्टि की कल्पना को छिन्न भिन्न करके लोक की अनन्तता को सिद्ध करता है। अतः जब लोक अनन्त है तो परमात्मा की बुद्धिमत्ता केवल दिल बहलाव की चीज़ है। हमने लिखा था कि परमात्मा भिन्न पदार्थ है और बुद्धि भिन्न, फिर उनका नित्य सम्बन्ध कैसा ? समवाय सम्बन्ध अचेतन और अनियामक है, वह भिन्न गुण का सम्बन्ध एक नियमित द्रव्य से हो नहीं करा सकता। अतः हमारा यह प्रश्न खड़ा रहता है कि ज्ञान का सम्बन्ध आकाश से क्यों नहीं होता ? परमात्मा ही से क्यों होता है ? आपने "गुण समुदायो द्रव्यं" का उदाहरण दिया है, किन्तु आपको यह पता नहीं है कि जैन लोग गुण को गुणी से सर्वथा भिन्न स्वतंत्र पदार्थ नहीं मानते हैं। वैदिक साहित्य जिसको आर्यसमाज प्रमाण मानता है उसके आधार पर हमने आर्यसमाज के परमात्मा में अज्ञान आदि का सद्भाव

प्रमाणित किया था। मालूम होता है कि इसपर आर्यसमाज भड़क गया है जोकि अनुचित है। यदि स्वामी दयानन्द का भाष्य ही इस बात को प्रमाणित करता है तो फिर भड़कने की कौनसी बात है। देखो ५-६ यजुर्वेद—"इस लिए हे परमेश्वर .....मैं और आप पढ़ने और पढ़ाने हारे दोनों प्रीति के साथ बरत कर विद्वान, धार्मिक हों, जिससे दोनों को विद्या वृद्धि सदा होवे"। इसी प्रकार देखो यजुर्वेद ७-३७—"ईश्वर कहता है कि हे.....उन संग्रामों को दूर कर और हम लोगों को सब जगह से भयरहित कर"। अब आर्यसमाज ही सोचे कि उसका मान्य भाष्य उसके परमात्मा को अज्ञानी और भयभीत बतलाता है या नहीं। तपके सम्बन्ध में आर्यसमाज ने लिखा है कि "यस्य ज्ञानमयं तपः" किन्तु उसको सोचना चाहिए कि परमात्मा उसकी दृष्टि से तो अनादि सर्वज्ञ है फिर वह ज्ञान के लिए क्यों प्रयत्न करता था? आर्यसमाज उत्तर दे। शतपथ के हमारे उल्लेख के सम्बन्ध में आर्यसमाज का लिखना है कि योग्य गुरु की ज़रूरत है। सो महाशयजी यह आपका लिखना ठीक है। हम तो शुरू से ही चिल्ला चिल्लाकर कह रहे हैं कि आर्यसमाज को किसी योग्य गुरू का सहारा लेना चाहिये। अगर आर्यसमाज को योग्य गुरू मिल गया होता तो वह अपने ग्रन्थों के अर्थ का अनर्थ न करता। महाशय जी क्या यह आपका शतपथ का प्रमाण परमात्मा के मैथुन विषय को प्रमाणित नहीं करता, ज़रा इसे ध्यान से पढ़ें।

आपके परमात्मा ने जगत के भ्रम को दूर करने के लिये स्वामी दयानन्द को भेजा था, किन्तु फिर भी उनको किसी ने ज़हर दे दिया, क्या आपके परमात्मा की यही शक्ति है ? यदि यही है तो आपके परमात्मा की शक्ति को एक क्षुद्र जीव भी नाश कर सकता है। आपके लिखने के अनुसार कि परमात्मा की तरफ से दुष्ट जीवों का संहार करने के लिये कुछ जल्लाद छोड़े हुए हैं, क्या इस घटना को भी उन्हीं जल्लादों का कार्य माना जावे ? एक तरफ ईश्वर प्रेरित स्वामी दयानन्द जी महाराज और दूसरी तरफ़ उसी ईश्वर के छोड़े हुए जल्लाद, एक ही कम्पनी की दो मेल ट्रेनों का यह विचित्र संघर्षण, आपके ईश्वरकी बुद्धिमत्ता और सर्व शक्तिमत्ता का अच्छा नमूना है।

ऋग्वेद के मंत्र का अर्थ जो आर्यसमाजी विद्वान् नरदेव जी ने किया है उसे आप प्रमाण नहीं मानते और आप यह भी लिखते हैं कि वह अर्थ, जिसके सम्बन्ध में हमने आपसे पूछा था, इस मंत्र के पदों में ऊपर से अध्याहार किया जाता है तो महाशय जी लिखिये कि किन मंत्रों से किन शब्दों का अध्याहार किया गया है। मूर्तिमान हेतु एवं लक्षण में भागासिद्ध और अव्याप्ति दोष क्रमशः हैं, यह हम पहिले लिख चुके हैं। दो परमाणुओं के समुदाय को जैन शास्त्र स्थूल इन्द्रियों का विषय नहीं मानते। आर्यसमाज ने अज्ञानता से उसको इन्द्रिय प्रत्यक्ष लिख मारा है।

कार्यत्व हेतु के व्यभिचार के सम्बन्ध में भी हम स्वामी दयानन्द जी के सत्यार्थ प्रकाश के वाक्य लिख चुके हैं जहां केवल जड़ से ही कार्य होना माना गया है, अतः हमने साध्यान्तर भूत पदार्थ से दोष नहीं दिया है।

ईश्वर ज्ञान वाली बात एवं इसके सम्बन्ध में विरुद्ध हेत्वाभास की बात भी आर्यसमाज हज़म कर गया है। अतः यह दोष तदवस्थ है।

आर्यसमाज के "आकस्मिक घटनाएं उस ही प्रकार की नियमित नहीं होतीं" इस वाक्य से सिद्ध है कि सब क्रियायें ज्ञानपूर्वक नहीं होतीं। अतः आपके वाक्य से ही आपके हेतु में व्यभिचार आता है।

प्रत्यक्ष से सृष्टि के ज्ञान के सम्बन्ध में भी आर्यसमाज ने शरीरी आत्मा का दृष्टान्त देकर अद्भुत न्याय का परिचय दिया है। यह ज्ञान अनुमान ज्ञान है न कि प्रत्यक्ष। अतः जगत कर्तृत्व पक्ष में दोष तदवस्थ हैं। इससे स्पष्ट है कि आर्यसमाज के जगत कर्तृत्ववाद के समर्थन में दिये गये संपूर्ण अनुमान अनुमानाभास हैं।

कर्तावाद के खण्डन में हमने अनेक प्रश्न एवं आठ अनुमान दिये थे, जिनका आर्यसमाजने कोई उत्तर नहीं दिया। अतः स्पष्ट है कि सूर्य के प्रकाश की तरह हमारे अनुमान जगत कर्तृत्ववाद रूप अन्धकार को दूर करते हैं। अन्वय व्यतिरेक ईश्वर के साथ नहीं बनता, इसके प्रमाण में पूर्व पत्र में काफ़ी

लिखा जा चुका है, उसको दोहराना व्यर्थ है। सर्वव्यापक के सम्बन्ध में आकाश का दृष्टान्त भी ठीक नहीं, क्योंकि आकाश परिणामी नित्य है किन्तु आर्यसमाज परमात्मा को ऐसा नहीं मानता। अतः सर्वव्यापक होने से निष्क्रिय परमात्मा जगत का कर्ता नहीं हो सकता। परमात्मा यदि काल की तरह उदासीन कारण है तो बताइये कि उसके क्रिया रूप कार्य में विचित्रता क्यों देखी जाती है? प्रलय में जब परमाणु भिन्न भिन्न रूप थे तो उस समय से एकसी ही क्रिया होनी चाहिये थी और ऐसा होने से स्कन्ध कभी नहीं बन सकते। भिन्न भिन्न पदार्थ यदि एक ही तरफ एकसी गति करें तो वे कहीं भी जाकर नहीं मिलेंगे। इसके लिये रेखा गणित का सिद्धान्त देखना चाहिये। अतः इस दृष्टि से तो स्कन्ध ही नहीं बनने चाहियें, जगत की रचना तो स्वप्न की सी बात है।

असुरकुमारों के सम्बन्ध में आर्यसमाजने दोबारा भी भूल की है। उसे मालूम होना चाहिये कि हरएक असुरकुमार नरकों में जाकर लड़ाई नहीं कराते किन्तु कौतूहल वश वहाँ वेदी जाते हैं जो संक्लेश परिणामी होते हैं (देखो तत्वार्थ सूत्र ३-५)। जिस प्रकार यहां पर भी मनुष्य मुर्गे, तीतर, झोटे आदि लड़ाते हैं और उसमें ही आनन्द मानते हैं, उसी तरह वहाँ भी जानना चाहिये। जैसे यहां के आदमी न तो सब उसमें शामिल ही होते हैं और न इस बात का व्यापार ही करते हैं किन्तु केवल मनोरञ्जन के लिये इस नीच कार्य को

कुछ मनुष्य ही करते हैं, उसी प्रकार कुछ असुरकुमार जो युद्ध प्रिय होते हैं कौतूहलवश वहां जाते हैं—उनका काम नारकियों को उनके कर्मों का फल देना नहीं हैं।

आर्यसमाज ने उनके साथ जैन मन्दिरों का सम्बन्ध बतलाकर तो और भी ग़लती की है। यदि कहीं पर आर्य-समाज का मन्दिर हो और वहाँ पर समाजी बसती भी हो, तो क्या समाज मन्दिर होने से वहाँ के सब समाजी शुद्धाचरणी और निर्दोष ही होते हैं, इस बात पर ध्यान दें।

हमने कर्म के प्रकरण में आर्यसमाज के कर्म और फल के लक्षण पर आपत्ति उपस्थित की थी और कहा था कि यदि आर्य-समाज इस बात का निर्णय करना चाहता है तो हमारी आप-त्तियों का जवाब दे फिर भी आर्यसमाज मौन है। अतः स्पष्ट है कि इस विषय में भी आर्यसमाज अपनी कमज़ोरी को जानता है।

जल्लाद, हिंसक जानवर आदि अत्याचारी प्राणी जब परमात्मा ने भेजे हैं और उसका अभिप्राय है कि ये अपने कार्य को करें, फिर ये लोग अपने कर्मों में स्वतन्त्र हैं, ऐसा कहना आर्यसमाज की भूल है। इसका तो यह मतलब है कि जगत में जितने भी पाप होते हैं वे सब दयालु परमात्मा की ही कृपा के कुपरिणाम हैं और इसके लिये अत्याचारी जीवों को व्यर्थ ही दोष दिया जाता है। गाय पर छुरी चलना, परमात्मा के द्वारा दिया गया हुआ पाप का फल है तो क्या ऐसा भी होसकता था

कि क़साई छुरी न चलाता और अगर न चलाता तो इस प्रकार का दुख गाय को कैसे मिलता। इससे समस्त पापों के ज़िम्मेवार पापी नहीं ठहरते। जब पापी पापी ही नहीं तो फिर फल ही किस बात का। परमात्मा क्या ज़मीन में पैदा होने वाले कीड़ों की पैदावार को नहीं रोक सकता है जो उसने उनका भक्षण करने के लिये अन्य कीड़ों का आविष्कार किया। परमात्मा को कर्मफल का दाता मानने से ही यह सब गड़बड़ पैदा होती है जिसका आपके पास कोई समाधान नहीं है।

अब ज़रा कर्म ही फल का दाताहै इस सत्य की सिद्धिमें वैदिक मान्यताओं के प्रमाण और देखिये—चर्क संहिता उपवेद बतलाता है कि कर्म ही फल के दाता हैं (देखो पृष्ठ ११३)। इसी तरह वेदान्त दर्शन का प्रमाण भी पहिले दिया जाचुका है जिसका आर्यसमाज ने कोई समाधान नहीं किया।

विज्ञान की दुहाई देने वाले समाज को जब बताया गया कि विज्ञान के वाक्यों का जो अर्थ किया गया है वह भ्रमपूर्ण है और वही विज्ञान आर्यसमाज ही की जड़ को खोदता है तथा इसके लिये उसी पत्र में अनेक वैज्ञानिकों के प्रमाण भी उद्धृत किये गये, तब आर्यसमाज विज्ञान का राग अलापना भूल गया है। आर्यसमाजको याद रखना चाहिये कि विज्ञानका परमाणुवाद, विकासवाद और ह्रासवाद आर्यसमाज के कर्तृत्ववाद को जड़ पर कुठाराघात करता है।

आर्यसमाज ने जो प्रश्न जैन ज्योतिष तथा जैन

भूगोल पर किये हैं वह भी विज्ञानके न समझने के कारण ही किये हैं। आर्यसमाज को बड़े बड़े शरीरधारी जीवों की अवगाहना से चौंकना न चाहिये। इसके लिये माडर्न रिव्यू के फ़र्वरी सन् १९३२ ई० के अङ्क के पृष्ठ १७४—१९७ पर तथा Extinct Monsters & Creatures by Rev. H.N. Hutchinson page 132 & 167 देखना चाहिये।

यहाँ हम यह बताना भी आवश्यक समझते हैं कि आप ने आत्मानन्दजीके ग्रन्थसे जो प्रमाण दिया है वह अमान्य है।

आज तक के आर्यसमाज के उत्तरों से स्पष्ट है कि वह ईश्वर को जगतकर्ता सिद्ध नहीं कर सका है और अकर्तावाद का निराकरण नहीं कर सका है। अतः सिद्ध है कि ईश्वर जगतकर्ता नहीं। मगर—

न समझा, उमर गुज़री उस बुते खुशतर को समझाते।
पिघल कर मोम हो जाता अगर पत्थर को समझाते॥

ह० मुनिसुव्रतदास जैन
प्रतिनिधि जैन समाज, पानीपत।

[८]

आर्यसमाज का पत्र

[तारीख ८-११-३३—समय ४ बजे सायंकाल]

आर्यसमाज का इस शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होने का उद्देश्य तत्व-निर्णय था, तथा प्रथम पत्र से लेकर अबतक वह उसीके लिए प्रयत्न करता रहा। यदि जैनसमाज भी इसी मार्ग का आश्रय लेता तो इसमें बहुत कुछ सफलता मिल सकती थी। परन्तु फिर भी आर्यसमाज ने जनता के सन्मुख इस विषय को सरल भाषा में रक्खा है। जैन समाज ने आरम्भ से ही इसको जटिल बनाने का प्रयत्न किया कि जनता को कुछ लाभ न हो, इसके लिए उसने तीन बातों को अपना आदर्श बनाया—(१) प्रकरण विरुद्ध अनेक प्रश्नों की लम्बी प्रश्नावली तैयार की (२) अनेक ग्रन्थों के प्रमाणों के अर्थ स्व-कपोल कल्पित करके ईश्वर पर मिथ्या दोषारोपण किये (३) जिन बातों में आपस में कुछ भी मतभेद नहीं था उसपर भी उलटे सीधे अनेक प्रश्न कर दिये। प्रथम बात के उदाहरण, यथा—प्रलय काल में मुक्त आत्मा भोग्य शरीर कैसे बनाता है। चार अरब बत्तीस

करोड़ वर्ष तक परमाणु निष्क्रिय पड़े रहतेहैं,इसीको लेकर अनेक प्रश्न किये हैं। तीसरी बातके उदाहरण, कर्मफल के सम्बन्ध में अनेक ऐसे प्रश्न हैं जिनका सम्बन्ध दोनों समाजों से बराबर है। दूसरी बात के लिए कुछ कहने की आवश्यकता नहीं, क्यों कि यह प्रत्यक्ष है। ऐसा करने का उद्देश्य केवल यह था कि विषय से विषयान्तर में जाकर इस विषय को अंधकारमें रक्खा जावे। परन्तु आर्यसमाज ने ऐसा करना उचित न समझा और बार २ उनको ठीक मार्ग पर चलाने का प्रयत्न करता रहा। जैन समाज का ऐसा करने का एक कारण यह भी था कि उसकी वैदिक सिद्धान्तों के विषय में नितान्त भ्रान्ति है जैसाकि शास्त्रार्थ के पढ़ने से विदित हो जावेगा। वैदिक सिद्धान्त के विषय में जहां जैन समाज की यह अवस्था है वहां संस्कार दोष से जैन सिद्धान्तों को भी ठीक ठीक अवगत नहीं किया है और रूढ़ी-बाद में फंसे होने के कारण जैन सिद्धान्तों पर निष्पक्ष बुद्धि से गवेषणा करने का प्रयत्न नहीं किया।

यथा:—आप लिखते हैं कि "आत्मा को निष्क्रिय सिद्ध करें हम इसके लिए आर्यसमाज को चैलेंज देते हैं"। श्रीमान् जी! हम भी आपका चैलेंज स्वीकार करते हैं और प्रमाण रूपमें यहां पंचास्तिकाय उपस्थित करते हैं—पृष्ठ १५७ श्लोक ९८ के भाष्य में आपके आचार्य लिखते हैं—"तद्भावाग्निः क्रियत्वं सिद्धानाम्" इसकी भाषा भी आपही के आचार्य श्रीपन्नालालजी बाकलीवाल की लिखते हैं—"और जब काल पायकर पुद्गलमयी

कर्म और नो कर्म का अभाव होता है तब साहजिक निष्क्रिय, निष्कम्प, स्वाभाविक अवस्थारूप सिद्ध पर्याय को धरता है"। और भी अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। इसी प्रकार आकाशादि के विषय में भी भ्रान्ति है। वास्तव में जैन समाज और आर्यसमाज में कर्तावाद विषय में भेद केवल जड़ और चेतन का है, जिसको हमने प्रथम पत्र में ही स्पष्ट कर दिया था। इसको न समझकर संसार की उत्पत्ति स्थिति प्रलय आदि में अनेक कुतर्क वितर्क किये, परन्तु ये सब बातें जैन शास्त्रों के द्वारा प्रथम पत्र में ही सिद्ध कर दी गई थीं! 'जिनको घट्टकुटी प्रभात न्याय' से अब स्वीकार किया है। जैन समाज का कर्तव्य था कि वह सिद्ध करता कि जड़ पदार्थों से बिना चैतन्य की सहायताके ही सृष्टि बन जातीहै। इसके लिये हमने कई विकल्प उठाकर दूसरे तीसरे पत्र में यह सिद्ध कर दिया था कि जड़ पदार्थ ऐसी सुव्यवस्थित, सुन्दर, विशाल, सार्थक, सर्वाङ्गपूर्ण (अद्भित) सृष्टि नहीं बना सकते जब तक चेतन शक्ति का सहयोग न हो। इसका उत्तर जैनसमाज या अन्य प्रकृति वादी दे ही क्या सकते थे? हमने इसी पर संतोष न करके जैन शास्त्रोंके प्रमाणोंसे भी यह सिद्ध कर दिया कि इस सृष्टि का निमित्त कारण चेतन सत्ता ईश्वर है। यथा—उत्तर पुराण पर्व ४८ में "तदा कारेण वातस्य वेधसा व्यञ्जिता गुणाः" में स्पष्ट लिखा है। आपने इसमें उत्प्रेक्षा बतलाकर पीछा छुड़ाया है, परन्तु इससे "विधाता" (ईश्वर) का अभाव तो सिद्ध न हो सका, अपितु

जैन समाज ने अपने साहित्य ज्ञान की पोल जनता के समक्ष रखदी। हमने कर्तासिद्धि में यह एक युक्ति दी थी कि इस सृष्टि में जो आकृति है वह कर्ता के ज्ञान से आई है, वहीं हमने यह भी लिख दिया था कि यद्यपि यह आकृति प्रकृतिमें शक्ति रूपसे रहती है परन्तु इसका प्रकाश चैतन्य शक्ति द्वारा ही होता है। जैसे मिट्टी में घट आदि की आकृति रहते भी वह मिट्टी स्वयं घट रूप नहीं होजाती। इसके ऊपर बिना ध्यान दिये ही अनेक अप्रासङ्गिक प्रश्न जैन समाज ने कर दिये, जिनका खण्डन उपरोक्त शब्दों में स्वयं वर्तमान है। एक प्रश्न जैन समाज ने यह किया है कि प्रलय काल में जीवात्मा कर्म लिङ्ग सहित रहती है या रहित? उत्तर यह है कि—प्रलय काल में जीवात्मा कारण शरीर सहित रहता है। ऐसे ही अप्रासङ्गिक प्रश्न किये हैं। आगे आपने लिखा है "कारण को कर्ता के साथ व्याप्ति नहीं, किन्तु कर्ता की कारण के साथ है"। प्रतीत होता है कि जैन समाज को कर्ता शब्द से चिड़ है; इसलिए हम ईश्वर को कर्ता न कहकर संसार का निमित्त कारण कह देते हैं। आशा है कि आपको अब संतोष होगा। इतने से शब्दान्तर के लिये आपने व्यर्थ ही इतने पृष्ठ काले करने का प्रयत्न किया। आगे आपने अमैथुनी सृष्टिका दृष्टान्त देकर कार्य कारण का विरोध बतला दिया जो वास्तवमें विरोध नहीं उत्सर्गापवाद है। संसार के कार्यत्व में हेतु इसकी विशालता, सुव्यवस्था, प्रयोजन, सौन्दर्य आदि दिये थे, उसमें आपने यह कहकर हेत्वाभास दिखलाया कि ये सब गुण तो

ईश्वर में भी हैं, फिर ईश्वर भी कार्य हो जावेगा। श्रीमान जी! यह तो विचार किया होता कि ईश्वर में ये गुण स्वाभाविक हैं और सृष्टिमें नैमित्तिक। आपने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका का एक प्रमाण देकर यह लिख दिया कि उस समय अव्यक्त प्रधान नहीं था और इसका भाव आपने यह निकाल लिया कि प्रलयावस्था में प्रकृति नहीं थी, सो आपको याद रखना चाहिये कि यहां वस्तु भेद नहीं है अपितु परिभाषा भेद है। किसी की परिभाषा में इसका नाम प्रकृति है, किसी की परमाणु, किसी की प्रधान, पुद्गल, कोई इसको स्वधा कहता है। वेद में प्रलय काल में प्रकृति की जो अवस्था है उसका नाम 'स्वधा' है—इसलिये वेद में स्वधा शब्द से इसका व्यवहार हुआ है। इसका अर्थ स्वामी जी ने 'जगत बनाने की सामग्री' किया है।

कर्मफल

कर्म जड़ होने के कारण जीवात्मा को फल नहीं दे सकते, इसके लिये हमने अनेक प्रमाण और युक्तियां दीं; जिनको जैन समाज ने नत मस्तक होकर स्वीकार कर लिया। केवल कर्म के लक्षण के विषय में यह लिख दिया कि—'इस लक्षण की जड़ पदार्थों में भी अति व्याप्ति है, इसलिए उनको भी फल मिलना चाहिये'। परन्तु यह विचार नहीं किया कि कर्म दो प्रकार के होते हैं—१. ऐच्छिक, २. अनैच्छिक। ऐच्छिक कर्मों का कर्ता जीवात्मा है जो स्वतंत्रता से इच्छा पूर्वक कर्म करता है और उनका फल भोगता है। जड़के कर्म अनैच्छिक हैं। नाना प्रकार के

कार्य, जिस प्रकार पृथ्वी आदि की एक नियमित क्रिया से दिन, रात्रि विविध ऋतुयें आदि २ अनेक कार्य सम्पन्न होते हैं इसी प्रकार उस परमात्मा की दी हुई इस प्रकार की गति से संसार के नाना प्रकार के कार्य निष्पन्न होते हैं।

विज्ञान

जब जैनसमाज आर्यसमाज की न तो युक्तियों का उत्तर दे सका और न प्रमाणों का कुछ समाधान कर सका तो वह विषयान्तर में जाने के लिये साइन्स की तरफ दौड़ा जो कि शास्त्रार्थ के नियमों के सर्वथा विरुद्ध था, क्योंकि न तो वह आर्यसमाज के लिये ब्रह्म वाक्य हैं और न जैनधर्म के लिये; फिर भी हमने एक दो प्रमाण विवश होकर दे दिये जिनका उत्तराभास भी जैन समाज ने दिया। यद्यपि उस उत्तराभास की छीछालेदर तथा सृष्टि की उत्पत्ति प्रलयादि के विषय में संसार के प्रसिद्ध साइन्सदाओं के मत प्रगट किये जासकते हैं, परन्तु ऐसा करना विषयान्तर में जाना है। एक प्रश्न यह था कि ईश्वर सापेक्ष कारण है या निरपेक्ष ? उत्तर—जिस प्रकार से आपके तीर्थङ्कर संसार को उपदेश देने में कारण हैं तथा सिद्ध अपने उपासकों को मुक्ति देने में कारण हैं तथा काल परिणमन में कारण है उसी प्रकार ईश्वर भी। एक प्रश्न यह भी था कि पदार्थ नित्य है या अनित्य ? उत्तर—सावयव पदार्थ अनित्य हैं, निरवयव नित्य। मानव कार्यों का कर्ता मनुष्य है और ईश्वरीय सृष्टि का कर्ता ईश्वर है परन्तु प्रकृति में

प्रारम्भिक क्रिया वही देता है। इसलिये सम्पूर्ण सृष्टि का कर्ता ईश्वर है। बौद्धिक व्यवस्था "नियम" है जो चेतन में रहता है। यद्यपि जैन प्रलय के सिद्धान्त विषय में हमने पर्याप्त प्रकाश डाल दिया है जिससे जैनियों को महा प्रलय सिद्ध हो चुकी है परन्तु इस पत्र में फिर जैन समाज ने एक बात में फिर जनता को भ्रम में डालने का प्रयत्न किया है। उसमें आपने बड़ी बुद्धिमत्ता (!) के साथ काम लिया है। आप लिखते हैं कि त्रिलोकसार के ८६५वें श्लोक में उस समय उसी स्थान पर मनुष्यों की उपस्थिति बतलाई है। बहुत विचार करने पर भी हमें यह नहीं मालूम हो सका है कि जैनसमाज इस प्रकार की चेष्टायें करने पर क्यों तुला है? शायद वह समझता हो कि लोगों के पास हमारे ग्रन्थ नहीं हैं इसलिये जो कुछ हम कह देंगे उसी पर जनता विश्वास कर लेगी; ऐसा समझना भूल है। श्रीमान जी जिस श्लोक का आपने वर्णन किया है वहां से तोआपकी प्रलय प्रारम्भ होतोहै और उसका अन्त हमारे ८६७वें श्लोक पर होताहै। आपका बार बार यह लिखना कि कुछ भूमि जन साधारण के रहने के अयोग्य हो जाती है, बिल्कुल मिथ्या है। हम स्पष्ट कर चुके हैं कि जब चार हज़ार मील की गहराई तक पृथिवी अपने भारतवर्ष की ओर से और इतनी ही गहराई तक अमरीका की ओर से नष्ट हो गई जिसको आपने स्वीकार कर लिया तो आठ हज़ार मील व्यास वाली पृथिवी में से क्या शेष रह गया। अब आपका विचारा 'कुछ' किसके आश्रित

रहेगा ? असल बात तो यह है कि त्रिलोकसार की त्रिलोक प्रलय ने जैन समाज को भयभीत कर दिया है। अबकी बार आपने चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष तक परमाणुओं को फिर भिन्न २ बतला दिया। श्रीमान् जी ! ऐसी ही भ्रान्तियों से तो आपने इतने पत्र काले किये, परन्तु फिर भी वही रफ़्तार है। भगवन् ! हम ऐसा नहीं मानते हैं। जिस प्रकार रात्री के ठीक बारह बजे पश्चात् दिन प्रारम्भ हो जाता है, इसी तरह प्रलय की अन्तिम अवस्था समाप्त होते ही कुछ काल के पश्चात् (जिसको ज्योतिष शास्त्र में रुध्यांश कहते हैं) सृष्टि प्रारम्भ हो जाती है। इसी प्रकार सृष्टि काल के मध्यभाग से प्रलय प्रारंभ होती है। एक प्रश्न आपने अबकी बार और किया है "आर्य-समाज काल और आकाश को भी नित्य और व्यापक मानता है, तो वे कर्ता क्यों नहीं ?" उत्तर—जिस प्रकार आपके इस लेख में पेंसिल भी कारण, काग़ज़ भी कारण, पुद्गल भी कारण, आकाश भी कारण, काल भी कारण, स्थान भी कारण, फिर येही लेखक क्यों न माने जावें और आप क्यों ? और अम्बाला आदि से आये हुए आपके विद्वानगण कारण हैं या नहीं ? आपने इसी प्रकार के बालकों केसे प्रश्न करके अपने को हास्य का पात्र बनाया है। आपने इस बार आत्म ज्ञान में अनुमान को प्रमाण बताया है, वही अनुमान प्रमाण ईश्वर ज्ञान में भी कारण है। आप लिखते हैं कि भिन्न २ पदार्थ एक ही साथ एक सी गति करें तो वे कहीं भी जाकर नहीं मिलेंगे, इस प्रश्न को

तो मैं ने अपने पत्र नं० २ में किया था। उसका उत्तर न देकर उलटा हम पर कर दिया है जिसका उत्तर मैं वहीं दे चुका हूँ कि ईश्वर ज्ञान पूर्वक क्रिया करता है। यह प्रश्न तो आपके जड़काल पर लागू होता है। फिर आपने नरक का प्रसंग छेड़ा है, वह भी भयानक रूप में। आपके इस लेख से प्रतीत होता है कि आपने मेरे लेख को बिना सोचे समझे उत्तर लिख मारा। न तो हमने यह लिखा कि वहां कोई शराब पीता है और न पिलाने का ज़िक्र किया, न जैनमन्दिरों के पास ही कोई शराब का ज़िक्र था। फिर न मालूम आपके हृदय में शराब के संस्कार कहां से जागृत हो गए, जिसके कारण आपने अनाप शनाप लिख मारा। मैं ने तो इतना ही लिखा था कि असुरकुमार नारकियों को तांबा गला गला कर पिलाते हैं और कहते हैं कि "यह तुम्हारे शराब पीने का फल है" इत्यादि। इसका नाम आप कुतूहल अथवा मनोरञ्जन फ़रमाते हैं। धन्य हो महाराज! आपके यहां गरम गरम तांबा पिलाना 'मनोरञ्जन' है। आपने तत्वार्थ सूत्र अ० ३ सूत्र ५ का प्रमाण देकर आफ़त मोल ले ली! क्योंकि उसीके भाष्य में सर्वार्थ सिद्धिकार ने लिखा है "असुरा नारकाणां दुख-मुत्पादयन्ति" अर्थात् असुर नारकियों को दुख देते हैं। यहाँ नार-कियों को दुख रूप फल असुर देते हैं या कर्म स्वयम्? कर्मफल देने पर सब असुर नियुक्त हैं या न्यूनाधिक यह आप जानें। फिर आपने गौ क़साई की बात छेड़ी। मालूम नहीं आपकी बार बार रुचि उधर क्यों जाती है! न तो हमारा आपका इसमें

मतभेद है और न यह प्रकृत विषय है, फिर भी उत्तर दिया जा चुका है। सुनिये, जिस प्रकार किसी को सज़ा देने के लिए जल्लाद को नियुक्त किया है, उसके स्थान में यदि कोई दूसरा आदमी उसी समय और उतनी ही सज़ा उस मुजरिम को दे देवे तो वह भी दण्डनीय होता है क्योंकि वह उसका स्वेच्छा कर्म है।

लगाकर पेड़ फूलों के किये तक़सीम गुलशन में।
जमाया चांद सूरज को सजाए क्या सितारे हैं॥

मैं ने चांद और सूरज की नियमित गति का तथा मनुष्य के शरीर की रचना का वर्णन करके यह दिखलाया था कि कोई भी विज्ञ पुरुष इन वस्तुओं का सम्बन्ध जड़से नहीं जोड़ सकता, कि जिसका आपने अब तक के पत्रों में ज़िक्र तक भी नहीं किया। मनुष्यों की आकृति को देखें, प्रत्येक की भिन्न २ है, जिसके कारण संसार में सुव्यवस्था है। यदि ओमान् आपका काल कर्ता होता तो यह एक ही प्रकार की आकृतियां ज्ञान से शून्य होने के कारण बना देता। उस वक्त आपको ज्ञान हो जाता कि जड़ प्रकृति के कर्तृत्व का फल क्या होता? समानाकृति मनुष्य आपस में लड़ २ कर मर जाते। आपने ना समझी के कारण वही प्रश्न फिर कर दिया कि कीड़ों की उत्पत्ति को सीमित रखने के लिये कीड़ों को कम ही क्यों न पैदा किया—उनको मारने को दूसरे जानवर क्यों पैदा किए? मालूम होता है कि कर्म फिलौसफी से भी मुनकिर हो गए हो-अन्यथा ऐसे

प्रश्न क्यों करते ? और क्या इसी बूते पर अपने को 'आस्तिक' कहलानेका दम भरते हो ? श्रीमान् जो उसका एक ही कारण नहीं है—(१) कम बनाता तो उनके कर्मों का फल किसको देता ? क्या आप दया करके उनके कर्मों की सज़ा आप उ.....। (२) उन जानवरों की अस्थियां खेत में खाद का काम करती हैं जिससे उपजे हुए अन्न से युष्मदादिकों का पालन होता है तथा वे हिंसक जानवर वायु को दूषित होने से बचाते हैं–जैसे सर्प विषाक्त वायु को पीता है। जहां भी, जिधर भी दृष्टि डालोगे और हृदय को पवित्र करके सद्भाव से मनन करोगे तो उस महामहिम, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, दयालु की देदीप्यमान ज्योति जगमगाती नज़र आयेगी—जिसकी आंखें हों देखे, कान हों सुने, बुद्धि हो विचारे, हृदय हो ग्रहण करे !

हमने देखा रूबे जानाँ खुदा को ए नज़ीर।
मर्तबा ज़ाहिर किया तामीर ने मैमार का॥

जब जैन समाज के पास हमारी युक्ति और प्रमाणों का कोई उत्तर न बन सका तो, सर्व प्रकारेण परास्त होकर "खिसियाई बिल्ली खम्मा नोंचे" वाली लोकोक्ति को चरितार्थ करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के विषय में ऐसी भद्दी भाषा में आक्षेप करके अपने हृदय की वास्तविकता प्रकाशित की है, जिसका उत्तर देने की सभ्यता आज्ञा नहीं देती। इस सारे शास्त्रार्थ का सार यदि देखा जाए तो यह है कि जैन भाइयों

को अपनी प्रलय, और सृष्टि के विषय में पूर्ण ज्ञान नहीं है। यदि जैन समाज इस शास्त्रार्थ में दिए गए जैन शास्त्रों के प्रमाणों तथा युक्तियों को ध्यान से देखेगा तो उसको जैन समाज के सिद्धान्तों में तथा वैदिक सिद्धान्तों में बहुत कुछ समता नज़र आएगी—

कौन कहता है कि हम तुम में जुदाई होगी।
यह हवाई किसी दुश्मन ने उड़ाई होगी॥

हमें आशा है कि जैन समाज अपने संस्कारजनित दोषों को मिटा कर इस पर विचार करेगा और इस पत्र में जिस तरह वेदों के मंत्रों के हवाले के नाम से बड़े बड़े लम्बे चौड़े देश बतलाकर भ्रम फैलाया है वैसा न करेगा, क्योंकि वहां पर आकाशादि शब्दों को बीच में से छोड़कर अपना काम चलाया है। जैन समाज का, जो इस दुनियां को असंख्य योजनों का मानता है, फिर भी उसके प्रबन्ध के लिये किसी चेतन सत्ता को स्वीकार न करना भूल है।

ग़ौर से देखो ज़मीनो आस्मां को मुन्किरो।
चल भी सकता बे खुदा के इन्तज़ाम इतना?

ह० सोहनलाल आर्य, मंत्री आर्यसमाज, पानीपत।

जैनसमाज का उत्तरपत्र

[तारीख़ ८-११-३३—समय ८ बजे रात्रि]

आर्यसमाज का अन्तिम वक्तव्य आर्यसमाज की पराजय का स्पष्ट उदाहरण है। आर्यसमाज ने यह लिखकर कि हम चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष तक समस्त परमाणुओं की भिन्न भिन्न अवस्था स्वरूप प्रलय नहीं मानते, स्पष्ट आर्यसमाज के सिद्धान्त से विद्रोह किया है। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में स्वामी दयानन्द जी ने लिखा है कि—"हज़ार चतुर्युगी पर्यन्त सृष्टि को मिटाके प्रलय अर्थात् कारण में लीन रखता है, उसका नाम ब्रह्म रात्री रक्खा है अर्थात् सृष्टि के वर्तमान होने का नाम दिन और प्रलय होने का नाम रात्री है। यह जो वर्तमान ब्रह्म दिन है इसके एक अरब छियाणवे करोड़ आठ लाख बावन हज़ार नौ सो छियत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में व्यतीत हुए हैं और दो अरब तैंतीस करोड़ बत्तीस लाख सत्ताईस हज़ार चौबीस वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाक़ी हैं" (ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ २३-२४)। इससे स्पष्ट है कि प्रलय के सम्बन्ध में आर्यसमाज की वही मान्यता है जो हमने लिखी है किन्तु आर्यसमाज पानीपत उसको नहीं मानता। अतः इस विषय में आर्यसमाज की सिद्धान्त हानि

होने से वह सिद्धान्त-हानि नामक निग्रह स्थान का पात्र है। प्रलय में जीवात्मा कारण शरीर सहित रहता है और मुक्त आत्मा भी भोग योग्य शरीर बना सकता है, आर्यसमाज का यह लिखना प्रलयवाद की निस्सारता को द्योषित करता है। जैन शास्त्र पृथिवी को बहुत बड़ा मानते हैं और वेद भी पृथिवी को असंख्यात योजन प्रमाण वाली मानते हैं। प्रमाण पत्र नं० ७ में लिखे जा चुके हैं। ऐसी अवस्था में यदि आर्य खण्ड में जो कि समस्त जम्बुद्वीप का एक बहुत छोटा हिस्सा है कोई ऐसा परिवर्तन हो जाता है जैसा कि विगत दिनों में ज्वाला-मुखी पहाड़ों के फटने से जापान या इटली में हुआ था और केवल कुछ सप्ताह तक वहां की दग्ध भूमि मनुष्यों के निवास योग्य नहीं रहती, फिर भी उसही स्थान में सूर्य चन्द्रमा आदिक का भ्रमण और रात दिन का विभाग होता रहता है। वायु आदि का भी अभाव नहीं होता तथा अनेक मनुष्यों के युगल कुछ शास्वत पर्वतों की कंदराओं में अपने प्राणों की रक्षा करते हैं। आर्यसमाज का ऐसे परिवर्तन से उस प्रलय को सिद्ध करने की चेष्टा करना जिसमें जगत मात्र परमाणु रूप हो जाता है, सूर्य से अन्धकार की रक्षा करने के समान हास्यास्पद है।

आपने त्रिलोकसार की ८६७ नं० की गाथा की ओर संकेत किया है। हमने पत्र नं० ७ में ८६५ वीं गाथा उद्धृत की थी। ८६७ वीं गाथा का अर्थ निम्न प्रकार है:— तिन वर्षानि तैं अवशेष [पर्वतों की गुफाओं में छुपे हुओं से बाक़ी (देखो

८६५, ८६६ का सम्बन्ध)] रहे जो मनुष्यादिक ते भी नष्ट होय हैं, बहुरि विष और अग्नि की वर्षान करि दग्ध भई पृथिवी सो एक योजन मात्र नीचा ताईं काल के वश से चूर्ण होय है।

मालूम नहीं किस तरह इस गाथा के आधार पर आर्यसमाज अपनी प्रलय को सिद्ध करना चाहता है। पृथिवीका आठ हज़ार मील व्यास आधुनिक पाश्चात्य खोजों के आधार पर माना गया है। क्या आर्यसमाज वेदोंमें वर्णित असंख्यात योजन विस्तार वाली पृथिवी को न मान कर वेद विरुद्ध कल्पना को आश्रय देता है? आर्यसमाज के लिये यह दूसरी बार सिद्धान्त-हानि निग्रह स्थान का प्रसङ्ग उपस्थित हुआ है।

आर्यसमाज की समष्टि और व्यष्टि की दलील का भी निराकरण किया जा चुका है जिसके सम्बन्ध में आर्यसमाज मौन है। अतः स्पष्ट है कि आर्यसमाज की प्रलय की बात न केवल जैन मान्यता के प्रमाणों से ही असार है किन्तु आर्यसमाज पानीपत के डमाडोल विश्वास ने भी ऐसा सिद्ध कर दिया है।

प्रलय की सिद्धि में त्रिलोकसार का आशय ढूंढना आर्यसमाज के लिये "अन्धसर्प बिल प्रवेश" न्याय का उदाहरण उपस्थित करता है। प्रलय के अभाव में भिन्न भिन्न परमाणुओं के समुदाय स्वरूप सृष्टि की बात ही व्यर्थ है। शतपथ ब्राह्मण से भी लोक की अनन्तता सिद्ध की जा चुकी है। अतः आर्यसमाज की सृष्टि और प्रलय दोनों स्वप्न की बातें हैं।

परमात्मा बुद्धिमान ही प्रमाणित नहीं होता इसके हम कई बार प्रमाण लिख चुके हैं जिसके सम्बन्ध में आप मौन हैं। हमारे उन प्रमाणों का भी, जो कि हमने आर्यसमाज के परमात्मा को अज्ञानी, भयभीत, गर्भ में जाने वाला, तपश्चरण करने वाला, पुत्रवान और मैथुन सेवन करने वाला आदि के समर्थन में दिये थे, आर्यसमाज कुछ भी समाधान न कर सका। अपने पहिले वक्तव्य में जब कवल प्रमाणों के सङ्केत कर दिये थे, आर्यसमाज भड़क उठा था, किन्तु जब हमने उन प्रमाणों को उद्धृत कर दिया तो वह चुप हो गया। सच है, वास्तविकता के सामने किसको चुप होना नहीं पड़ता? अतः आर्यसमाज की प्रलय, उसके ईश्वर की सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता प्रमाणित नहीं होती।

"ईश्वर गर्भ में आया" देखो (छांदो० उप० ३-१९-१)—(यजु० ३-१९)--(अथर्व० १०-८-१३)—(प्रश्न० उप० २-७)—(एतरेय २-१-१)—(मुण्डक ४—२७)। "ईश्वर भयवान था" देखो(बृहद् १—४—१)—(यजु० दयानन्द भाष्य ७—३७)। "ईश्वर पाप सहित था" देखो (बृहद्० १—४—१)। "ईश्वर पुरुषाकार" देखो (तैतरीय २—६)—(शतपथ १४-१-४-१)। "ईश्वर पुत्रवान" देखो (मुण्डक १—१)।

आर्यसमाज के कार्यत्व हेतु में विरुद्ध व्यभिचारी और साध्यविकल दोष दे चुके हैं, जिनका आर्यसमाज की तरफ से कोई समाधान नहीं हो सका। ज्ञान पूर्वक क्रिया के साधनों

का भी यही हाल है। स्वामी दयानन्द के सत्यार्थप्रकाश के आधार से केवल बीज से ही कार्य की उत्पत्ति होना प्रमाणित है—"कहीं कहीं जड़के निमित्तसे जड़ भी बन और बिगड़ जाता है जैसे परमेश्वर के रचित बीज पृथिवीमें गिरने और जल पाने से वृक्षाकार हो जाते हैं, अग्नि के संयोग से बिगड़ भी जाते हैं" (देखो सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ २१२)। अतः आर्यसमाज के सृष्टि कर्तृत्व नियामक साधन इसी वृक्ष और राख से व्यभिचारी हैं। आर्यसमाज का यह कहना कि कार्य में आकृति कर्त्ताके दिमाग़ से आती है, यह भी उस ही वृक्ष और राख से व्यभिचारी है, क्योंकि उसमें आकृति तो है किन्तु उसको स्वयं स्वामी दयानन्द जी ने कर्त्ता के दिमाग़ से नहीं माना है। इससे स्पष्ट है कि आर्यसमाज के सम्पूर्ण साधन जो उससे ईश्वर को जगतकर्ता सिद्ध करने के लिए दिये थे, हेत्वाभास हैं। जहां कि आर्यसमाज के हेतु हेत्वाभास हैं वहीं हमने जिन अनुमानों को कर्तृत्ववाद के खण्डन में उपस्थित किया था वे अपना कार्य बड़ी दृढ़ता के साथ करते हैं। हमारे अनुमान निम्न प्रकार हैं:— १. ईश्वर जगतकर्ता नहीं, "इच्छा रहित एवं अशरीरी होने से" २. ईश्वर जगतकर्ता नहीं, "व्यापक होने से"। ३. ईश्वर जगतकर्ता नहीं, "जगत के अनादि होने से।" (देखो "अनारम्भनमिव" बृहद्० ३-१-३-६॥ "अक्षितावैलोका" शतपथ १२-३-४-११)। ४. ईश्वर जगत कर्ता नहीं, "विज्ञान के प्रतिकूल होने से"। इसके समर्थन में अनेक वैज्ञानिक प्रमाण

दिये जा चुके हैं जो जगत को अनादि अनन्त प्रमाणित करते हैं और जिसका जवाब आर्यसमाज कुछ भी नहीं दे सका है। यदि आर्यसमाज विज्ञान को प्रमाण नहीं मानता था तो फिर उसने ही प्रथम विज्ञान की शरण क्यों ली थी ? ५. ईश्वर जगत कर्त्ता नहीं, "जगत के साथ अन्वय व्यतिरेक होने से"। इसके प्रतिवाद में आर्यसमाज के बड़े बड़े आचार्य भी असफल हुए हैं, आर्यसमाज पानीपत की तो बात ही क्या है। ६. ईश्वर जगत कर्ता नहीं, "आर्य समाज के मान्य शास्त्रों के प्रतिकूल होने से"।

आज तक आठ पत्र गुज़र चुके हैं फिर भी आर्यसमाज ईश्वर को जगत् कर्त्ता सिद्ध करने में एक भी वैदिक प्रमाण नहीं दे सका। इससे स्पष्ट है कि ईश्वर को जगत कर्ता बतलाना आर्यसमाज का कोरा वितण्डावाद है– वैदिक सिद्धान्त नहीं। यदि यह वैदिक सिद्धान्त होता तो उस अवस्था में जबकि जैन समाज इस बातको चिल्ला चिल्लाकर सिद्ध कर रहा है कि ईश्वर का कर्तृत्व वैदिक मान्यता के प्रतिकूल है, क्या आर्यसमाज एक भी प्रमाण उपस्थित न करता। अतः स्पष्ट है कि हेतु नं० ६ के सामने आर्यसमाज नत मस्तक है और रहेगा। जबकि आर्यसमाज एकभी वैदिक प्रमाण कर्तृत्व वाद के समर्थन में नहीं दे सका तब हमारी तरफ़ से उसके खण्डन में अनेकों वैदिक प्रमाण दिये जा चुके हैं जिनका उल्लेख पहिले तथा इन पत्रों में किया गया है। अतः वैदिक ईश्वर का स्वरूप जैन मान्यता के ढांचे में ढला हुआ है। क्योंकि पहिले उल्लेखों में हम बता आए हैं कि वह गर्भ में गया था,

बाद को पुत्रवान हुआ था, तपश्चरण करके पाप का नाश किया था, और फिर ब्रह्मलोक को प्रयाण किया था, पुरुषाकार था, ईश्वर के इस स्वरूप के साथ कर्तृत्ववाद का जोड़ना ही वेद-विरुद्ध अनर्थों की खान है, क्योंकि वैदिक साहित्य ईश्वर के कर्तृत्व का समर्थन नहीं करता। ईश्वर के जगत कर्तृत्व के समर्थन में आर्यसमाज ने एक हेतु "नियमितता" दिया था यानि उसका कहना था कि जगत में नियमानुसार व्यवस्था मिलती है, अतः इसका कोई रचैता है। इसके निराकरण में ज्वालामुखी के फटने से, अतिवृष्टि और अनावृष्टि से, भूकम्प से और उल्कापात से होने वाला संसार के प्राणियों का भयंकर संहार, मौसमों की गड़बड़ी, रोग, मरी, दुरभिक्ष, समुद्र में जलवृष्टि, मरुस्थल में अनावृष्टि, सतियों पर उपसर्ग और वेश्याओं के लिये स्वर्ग आदि बातें जगत की नियमानुकूलता का खूब उपहास करती हैं। कर्म ही फल का दाता है इसका समर्थन भी हम आर्यसमाज के मान्य शास्त्रों से कर चुके हैं। यहाँ पुनः उद्धृत करते हैं--देखिये वेदान्त सूत्र २-३-४०, उपवेद चरक संहिता पृष्ठ ११३, श्वेत० उप० १-१-१-३, बृहद्आरण्यक ३-२-१३, छां० उप० ३-१४-१। हम पहिले लिख चुके हैं कि जिस कर्म का फल मिलता है वह कर्म जीवों का परिणाम है जिसको आर्यसमाज ने इच्छा के रूप में स्वीकार किया है। वह कर्म जो फल दाता है जड़रूप है, फ़ोनोग्राफ की प्लेट पर गाने की आवाज़ की तरह उन पर अच्छे बुरे भावों का संस्कार

हो जाता है और संस्कार युक्त जड़ पदार्थ परम सूक्ष्म रूप में आत्मा के साथ सम्बन्धित हो जाता है। पातञ्जलि ऋषि ने इस ही को आशय और कणाद ऋषि ने कारण शरीर या लिङ्ग शरीर आदि नामों से स्वीकार किया है। समय पाकर यही कर्म ग्रामोफ़ोन की प्लेट की तरह आत्मा को शुभाशुभ संस्कारों के अनुरूप फल देता है। यही कारण है कि कर्म का फल कर्म करने के समय पर ही नहीं मिलता। यदि सिद्धान्त की इस फ़िलोसफी को स्वीकार न किया जाए और ईश्वर को ही फल का दाता माना जाय तो अनेक आपत्तियां उपस्थित होती हैं, जो पहिले पत्र में लिखी जा चुकी हैं। आर्यसमाज का कर्म का लक्षण उसके फल में भी जाता है, फिर जीव की स्वतन्त्रता भी कर्म करने में भी नहीं बनती। हम बतला चुके हैं कि वही एक दृष्टि से कर्म है और दूसरी दृष्टि से फल, अतः यहां दृष्टि भेद से स्वतन्त्रता और परतन्त्रता दोनों घटित होती हैं। दूसरी बात यह है कि यदि ईश्वर को सर्वज्ञ और एक रूप मान भी लिया जाय तो भी कर्मफल का दाता नहीं हो सकता, क्योंकि उसका ज्ञान सदा एक रूप रहता है। क्या वह न्यायाधीश जिसका ज्ञान एकसा रहता है भिन्न भिन्न मुक़द्दमों का निर्णय कर सकता है, भिन्न भिन्न मामलों के निर्णय के लिये उपयोग का परिवर्तन आवश्यक है। तीसरी बात यह है कि ईश्वर को फल-दाता मानने में चक्रक दोष आता है। ईश्वर को फलदाता मानने से कर्म करने में जीवों की स्वतन्त्रता नहीं रहती, क्योंकि

जो कुछ वह करता है ईश्वरेच्छानुकूल करता है। जब आपके लिखे अनुसार हिंसक प्राणियों का निर्माण ईश्वर की इच्छा से अन्य प्राणियों का संहार करने के लिये हुआ है तो फिर उनको स्वतन्त्रता कैसी और ऐसा होने से कर्मों के प्रति जीवों का उत्तरदायित्व नहीं रहता। सीधे शब्दों में वे पुण्य पाप के भागी नहीं होने चाहियें। पुण्य पाप के भागी न होने से ईश्वर के फल देने की कल्पना मनोरञ्जन की वस्तु है। जीव की स्वतन्त्रता के विषय में हमारा कहना है कि जैनधर्म का तो आदर्श ही सब जीवों को स्वतन्त्र बनाना है, वह यह नहीं कहता कि चाहे जितनी भक्ति, उपासना और तपश्चरण करो किन्तु फिर भी पुजारी ही बने रहोगे और कभी अपने आराधक के समान पूर्ण ज्ञानी और शक्तिशाली न हो सकोगे। इस प्रकार दासता ईश्वर भक्तों के यहाँ ही देखी जाती है। आपने लिखा था कि कर्म दो तरह के होते हैं, ऐच्छिक और अनैच्छिक। ऐच्छिक का फल मिलता है और अनैच्छिक का नहीं। किन्तु आपका यह लिखना बिल्कुल ग़लत है। देखा जाता है कि संसार के अनेक व्यसनी पुरुष कुसङ्गत में फंस कर बिना इच्छा के भी अनेक दुष्कर्म कर डालते हैं तो क्या उनको उनके दुष्कर्मों का फल नहीं मिलेगा, अतः अनैच्छिक कर्मों का भी फल अवश्य मिलता है। हम लिख चुके हैं कि हर एक असुर नरकों में लड़ने नहीं जाते, फिर भी आर्यसमाज ने वही बात दोहरा दी है। (देखो श्लोकवार्तिक अ० ३ सूत्र ५—"संक्लिष्ट विशेषणं

अन्यासुर निवृत्यर्थं" अर्थात् संक्लिष्ट विशेषण अन्य असुरों के परिहार के लिये दिया है। अतः इनके आधार से जैन कर्मवाद पर कोई आपत्ति नहीं आ सकती, इसका विशेष खुलासा हम पत्र नं० ७ में कर चुके हैं। आर्यसमाज ने परमात्मा के मैथुन विषय पर भी एक प्रश्न किया है, इसके उत्तर में देखो शतपथ १४-४-२-११०—"पुरुष विधः सोनुवीक्ष्य" से "यमएवं वेद" तक। अर्थात् पहले पहल पुरुषाकार केवल एक ही आत्मा थी, उसने अपने आपको देखा, उसने ब्रह्म कहा और उसका नाम अहं कहने से अहं हो गया, उस अहं को अकेले में मज़ा न आया क्योंकि दुनिया में किसी भी अकेले को मज़ा नहीं आता, उसने दूसरे की इच्छा की और उसका शरीर इतना स्थूल हो गया कि जिससे एक स्त्री और एक पुरुष निकलें, अतः इतने शरीर को दो भागों में विभाजित किया, एक का नाम स्त्री और दूसरे का नाम पुरुष रक्खा गया। इन दोनों से सम्पूर्ण स्त्री-पुरुष उत्पन्न हुए। स्त्री ने देखा कि उसने मुझे अपने शरीर से पैदा करके मुझसे विषय भोग किया है, इसलिये वह लज्जित हुई और मारे रंज के गाय बन कर छिप गई, मगर पुरुष ने भी उसका पीछा नहीं छोड़ा, वह भी फ़ौरन बैल बन गया, इनके संभोग से गाय बैल हुए। फिर वही स्त्री घोड़ी बनी तो पुरुष घोड़ा बना, वह गधी बनी तो वह गधा बना, इत्यादि। इस प्रकार के मैथुन से संपूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई। और भी आगे बढ़िये और गोपथ १-१-३ देखिये।

वहां लिखा है कि वह पहिले एक ब्रह्म था उसने अपने को अकेला देखा, दूसरे को चाहा, श्रम और तप किया, उसके मस्तक पर चिकनाहट उत्पन्न हुई, फिर तप किया उसके रोम कूपों से श्वेत धारा निकली और बहने लगी। इसमें उसने अपनी छाया देखी, छाया के देखने से उसका वीर्यपात हो गया, फिर उसने वीर्य को तपाया, उसके दो भाग हो गये—एक मीठा दूसरा खारी, मीठे से भृगु और खारी से अङ्गिरा।

हमारा विचार था कि हम इन प्रमाणों को यहां न लिखें, किन्तु आपने इस विषय में हमको मजबूर कर ऐसा कराया है। सांख्य दर्शन को ईश्वर वादी बतलाना भी दर्शन शास्त्र पर कुठाराघात करना है। "ईश्वरासिद्धे" इसका मतलब ईश्वर का अभाव है, क्योंकि इस सूत्र से पहिले मानसिक प्रत्यक्ष का वर्णन है, इसकी अव्याप्ति योगियों में दिखलाई थी, फिर ईश्वर में। इसपर महर्षि कपिल ने लिखा है कि जब ईश्वर ही नहीं तब दोष ही कैसा, अतः यह ईश्वरवाद का खण्डक है। यदि यहां ईश्वर को स्वीकार किया गया होता तो ईश्वर वादी वेदान्त दर्शन ने इसी दृष्टि से इसका खण्डन न किया होता (देखो वेदान्त दर्शन २—२—१—१०)। इन सब बातों से स्पष्ट है कि आर्यसमाज का प्रलय और सृष्टिवाद थोथा है जिस पर आर्यसमाज पानीपत को स्वयं भी विश्वास नहीं है। ईश्वर के सर्वव्यापकत्व और सर्वशक्तिमत्ता की भी यही हालत है। यह तो क्या, आर्यसमाज तो अपने ईश्वर को बुद्धिमान भी

सिद्ध नहीं कर सका। आर्यसमाज के सब कर्तावाद के अनुमान बेकार प्रमाणित हुए हैं। प्रत्येक अनुमान में कई २ दूषण दिखलाए गए हैं जिनका समाधान आर्यसमाज से नहीं हो सका है। यही हालत ईश्वर के कर्मफल देने की है। जैनियों के कर्तावाद के खण्डन के अनुमान भी अखण्डित प्रमाणित हुए हैं। विज्ञान ने भी जगत को अनादि और अनन्त प्रमाणित कर दिया। और तो क्या वैदिक साहित्य ही कर्तावाद का खण्डन कर रहा है। इन सब बातों के आधार से निश्चित है कि ईश्वर जगत कर्ता नहीं।

सत्यमेव जयति।

ह० मुनिसुव्रतदास जैन

प्रतिनिधि जैन समाज, पानीपत।

श्री 'चम्पावती' जैन पुस्तकमाला की

सर्वोपयोगी पुस्तकें

१. जैनधर्म परिचय

पं० अजितकुमारजी शास्त्री इसके लेखक हैं। पृष्ठ संख्या करीब पचास के है। लेखक ने जैनधर्म के चारों अनुयोगों को इसमें संक्षेप में बतलाया है। जैनधर्म के साधारण ज्ञान के लिये यह बहुत उपयोगी है। मूल्य केवल -)॥

२. जैनमत नास्तिक मत नहीं है

यह मि० हर्बर्ट वारन के एक अंग्रेज़ी लेख का अनुवाद है। इसमें जैनधर्म को नास्तिक बतलाने वालों के प्रत्येक आक्षेप का उत्तर लेखक ने बड़ी योग्यता से दिया है। मूल्य केवल)॥

३. क्या आर्यसमाजी वेदानुयायी हैं?

इसके लेखक पं० राजेन्द्रकुमार जी न्यायतीर्थ हैं। इसमें लेखकने आर्यसमाजियों के अनादि पदार्थों के सिद्धांत, मुक्तिसिद्धांत, ईश्वर का निमित्तकारण और सृष्टिक्रम व ईश्वर-स्वरूप को बड़ी स्पष्टरीति से वेद-विरुद्ध प्रमाणित किया है। पृष्ठ संख्या ४४। फ़ाइज़ बढ़िया। मूल्य केवल -)

४. वेद मीमांसा!

यह पं० पुत्तूलाल जी कृत प्रसिद्ध पुस्तक है। पुस्तक-माला ने इसको प्रचारार्थ पुनः प्रकाशित किया है। मूल्य छः आने से कम करके केवल =) रक्खा है।

५. अहिंसा !

इसके लेखक पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री धर्माध्यापक स्याद्वाद विद्यालय काशी हैं। लेखक ने बड़ी ही योग्यता से जैनधर्म के अहिंसा सिद्धान्त को समझाते हुए उन आक्षेपों का उत्तर दिया है जो कि विधर्मियों की तरफ़ से जैनियों पर होते हैं। पृ० संख्या ५२। मूल्य केवल -)॥

६. श्रीऋषभदेवजीकी उत्पत्ति असंभव नहीं है!

इसके लेखक बा० कामताप्रसाद जैन अलीगञ्ज (एटा) हैं। यह आर्यसमाजियों के "ऋषभदेवजी की उत्पत्ति असंभव है" ट्रैक्ट का उत्तर है। पृष्ठ संख्या ८४, मूल्य ।)

७. वेदसमालोचना

इसके लेखक पं० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ हैं। लेखक ने इस पुस्तक में, अशरीरी होने से ईश्वर वेदों को नहीं बना सकता, वेदों में असम्भव बातों का, परस्पर विरुद्ध बातों का, अश्लील, हिंसा विधान, मांसभक्षण समर्थन, असम्बद्ध कथन, इतिहास, व्यर्थ प्रार्थनायें और ईश्वर का अन्य पुरुष से ग्रहण आदि कथन है, आदि विषयों पर गम्भीर विवेचन किया है। पृष्ठ संख्या १३४। मूल्य केवल ।=)

८. आर्यसमाजियों की गप्पाष्टक !

लेखक—श्री पं० अजितकुमार जी, मुल्तान। विषय नाम से प्रगट है। मूल्य)॥

९. सत्यार्थदर्पण !

लेखक—श्री पं० अजितकुमार जी, मुलतान। हमारे यहां से यह पुस्तक दूसरी बार आवश्यक परिवर्तन करके ३५० पृष्ठों में छापी गई है। इसमें सत्यार्थप्रकाश के १२वें समु-

खण्डन का भली प्रकार खण्डन किया गया है। प्रचार करने योग्य है। लागत मात्र मूल्य ॥।)

१०. आर्यसमाज के १०० प्रश्नों का उत्तर!

लेखक—श्री पं० अजितकुमार जी, मुलतान। विषय नाम से प्रकट है। पृष्ठ संख्या १००। मूल्य ≈)

११. क्या वेद भगवद्वाणी है ?

लेखक—श्रीयुत सोऽहं शर्मा। विषय नाम से प्रकट है। पुस्तक पढ़ने एवं विचार करने योग्य है। मूल्य -)

१२. आर्यसमाज की डबल गप्पाष्टक !

लेखक—श्री पं० अजितकुमार जी, मुलतान (पञ्जाब)। विषय नाम से प्रगट है। मूल्य -)

१३. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि !

लेखक—श्री बा० कामताप्रसाद जी, अलीगञ्ज (एटा)। इस पुस्तक में दिगम्बर मुनियों के स्वरूप के साथ ही साथ उनके दिगम्बरत्व को शिलालेख, शाही फ़र्मान और विदेशी यात्रियों तथा विद्वानों के उल्लेख आदि ऐतिहासिक दृढ़ प्रमाणों द्वारा अनादि सिद्ध किया है। दिगम्बर मुनियों के स्वरूप और उनके आदर्श को प्रगट करने के हेतु श्री पञ्च परमेष्ठी, भगवान ऋषभदेव, भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर तथा श्री आचार्य-शान्तिसागर जी महाराज आदि के चित्र भी दिये गये हैं। क़ाग़ज़ २८ पौंड, पृष्ठ संख्या क़रीब ३५०, मूल्य केवल एक रुपया।

१४. आर्यसमाज आगरा के ५० प्रश्नों का उत्तर

लेखक—पं० अजितकुमार जी शास्त्री मुलतान हैं। विषय नाम से प्रगट है। पृष्ठ सं० ६४; मू० केवल ≈)

१५. जैनधर्म सन्देश

लेखक—पं० अजितकुमार जी शास्त्री मुलतान। इसमें जैनधर्म के चारों अनुयोगों का प्रतिपादन गागर में सागर की भांति किया गया है। पृष्ठ सं० ३२; मू० ≈)

१६. आर्य भ्रमोन्मूलन

लेखक—पं० अजितकुमार जी शास्त्री मुलतान। इस पुस्तक में शास्त्री जी ने आर्यसमाज के जैन भ्रमोच्छेदन ट्रैक्ट का करारा उत्तर दिया है। छपाई और क़ाग़ज़ बढ़िया; फिर भी मूल्य ≈)

१७. लोकमान्यतिलक का जैनधर्मपर व्याख्यान।

यह पुस्तक बड़ी उपयोगी है और अजैन विद्वानों में बाँटने योग्य है; अभी द्वितीयावृत्ति हुई है। मूल्य)॥

१८. शास्त्रार्थ पानीपत भाग १

यह शास्त्रार्थ जैनसमाज पानीपत और आर्यसमाज पानीपत से लिखित हुआ है। इसका विषय "क्या ईश्वर सृष्टि-कर्ता है" है। हरेक जैन व अजैन के पढ़ने योग्य है, पृष्ठ संख्या पौने दो सो के क़रीब है। मूल्य केवल ॥≈)

१९. शास्त्रार्थ पानीपत भाग २

यह पुस्तक उक्त शास्त्रार्थ का दूसरा भाग है। इसका विषय "क्या जैन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ थे" है। हरेक जैन व अजैन के पढ़ने योग्य है। पृष्ठ संख्या २०० के क़रीब है। मूल्य ॥≈)

पुस्तकें मिलने का पता :—

मैनेजर—श्री दिगम्बर जैन शास्त्रार्थ संघ,
सदर बाज़ार, अम्बाला छावनी।

भा० दि० जैन शास्त्रार्थसंघ का

पाक्षिक मुखपत्र

जैन दर्शन

दार्शनिक, धार्मिक, ऐतिहासिक और सामाजिक आदि विषयों पर विद्वानों के अत्यन्त उपयोगी लेखों व चुनी हुई ख़बरों से परिपूर्ण, पं० दरबारीलाल जी की लेख माला "जैनधर्म का मर्म" का सयुक्तिक खण्डन और आर्यसमाज आदि द्वारा किये गये आक्षेपों का समाधान करने वाला तथा जैनसमाज के हितों का रक्षक एकमात्र पाक्षिक-पत्र हर महीने की तारीख़ १ व १६ को निश्चित रूपसे प्रगट होजाता है। आज ही नमूना मंगा कर ग्राहक बन लाभ उठाइये।

पत्र-व्यवहार का पता:—

प्रकाशक "जैन दर्शन", बिजनौर (यू० पी०)।

"चैतन्य" प्रिन्टिङ्ग प्रेस, बिजनौर।